ओ३म्

वेदाऽध्ययन

प्रथम पुष्प भाग-१

वेदामृत का पान करें हम।
जीवन का निर्माण करें हम॥

ओ३म्

असतो मा सद्गमय-तमसो मा ज्योतिर्गमय-मृत्योर्मामृतं गमय।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन का ५१ वां पुष्प"

वेदाध्ययन, भाग-१

(ऋग्वेद-कुछ चुने हुए सूक्त)

लेखक-वेदरत्न, प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार

उपकुलपति (Pro-Vice-Chancellor)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, (उ०प्र०)

आचार्य गोयर्धन शास्त्री स्मृति पुरस्कार(१९८१)से सम्मानित एवं पुरस्कृत, द्वारा-'संगढ़ विद्यासभा ट्रस्ट, जयपुर।'

आर्य साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य में सम्मानित एवं पुरस्कृत (१९८३ में) द्वारा महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह समिति, अजमेर।

वेदरत्न-मानद उपादि(१९८४ में)द्वारा-विश्व वेद परिषद्।

'शान्ति' पुरस्कार से पुरस्कृत एवं सम्मानित(१५ अगस्त१९९३) द्वारा-आर्य समाज शालीमार बाग दिल्ली।

पता-वेदरत्न, प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार

५१२ वेदन सदन, आर्यनगर, ज्वालापुर, जि०-हरिद्वार

पिन-249407 [S.T.D. Code No 0133 ☎ : 426095]

प्रकाशक— श्रीमती सरोज आर्या, अध्यक्ष

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" ५१२ वेद सदन, आर्य नगर, ज्वालापुर

प्र०संस्करण ४०००, दयानन्दाब्द-१७१, वि० सम्वत् २०५१

जून १९९४

पुस्तक विक्रेता आदि को 'श्रद्धा साहित्य प्रकाशन' के लिये ५.५०पैसे दान देकर भी यह पुस्तक प्राप्त की जा सकती है।

विषय सूची

मूल्य-"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" से सरल-सुबोध रूप में प्रकाशित होने वाला वैदिक साहित्य दानी महानुभावों के दान से प्रकाशित होता हैं और सुपात्रों को प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनना इसका मूल्य है।

जो महानुभाव इस सरल सुबोध वैदिक साहित्य को उपयोगी समझ कर मंगवाना चाहें या इसमें अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करना चाहें, वे कृपया लेखक या अध्यक्ष के पते पर भेजें या पत्र व्यवहार करें। न्यून से न्यून १०० रुपये तक के दान या मासिक दान की राशि किसी एक पुस्तक की दान सूची में प्रकाशित की जायेगी, शेष फुटवर दान के रूप में।

नोटः-पुस्तक विक्रेता आदि को छपा हुआ ५.५० प्रकाशन के लिये दानार्थ देकर भी यह पुस्तक ली जा सकती है।

समर्पण

जिस परमपिता परमात्मा की अपार अनुकम्पा एवं अपने पूजनीय गुरुजनों के उदार हृदय से प्रदान किये हुए ज्ञान और आशीर्वाद के आधार पर "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" के ५१ वें पुष्प 'वेदाध्ययन भाग-१ ऋग्वेद-कुछ चुने हुए सूक्त, के प्रथम संस्करण को मैं स्वाध्याय एवं सत्संग प्रेमी महानुभावों के कर-कमलों में प्रदान कर सका, उन्हीं के पावन चरणों में मेरा यह अल्प प्रयास समर्पित है।

विनीत-रामप्रसाद वेदालंकार

भूमिका

वेद का स्वाध्याय करते हुए जो सूक्त वा मन्त्रादि मुझे प्रिय लगते हैं और यह प्रतीत होता है, कि इनके स्वाध्याय से औरों को भी सुख मिलेगा और जीवन में कुछ आगे बढ़ने और ऊपर उठनें की प्रेरणा मिलेगी, तो सभी स्वाध्याय एवं सत्संग प्रेमी महानुभावों के यथा शक्ति सहज सहयोग से उन्हें प्रकाशित करने का प्रयास किया जाता है। सो उसी का परिणाम है कि यह "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" का ५१वाँ पुष्प" 'वेदाध्ययन' प्रथम-भाग, आपके कर कमलों में विराजमान है। यह 'वेदाध्ययन' कई भागों में प्रकाशित होगा। ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में से कुछ चुनें हुए सूक्त श्रद्धा साहित्य प्रकाशन के ५१ वें पुष्प से ६० वे पुष्प तक होंगे। इसी प्रकार यजुर्वेद के चालीस अध्यायों में से कुछ चुने हुए अध्यायों, सामवेद के पूर्वाचिकं एवं उत्तराचिकं में से कुछ चुनें हुए सूक्तों पर होगा। मुझे विश्वास है कि इस कार्य से जहाँ स्वाध्याय प्रेमियों को लाभ होगा वहाँ वेद का अध्ययन करनें वाले छात्रों को भी इससे लाभ होगा। इस कार्य से यदि स्वाध्याय एवं सत्संग प्रेमी महानुभावों को कुछ भी लाभ हुआ तो लेखक एवं प्रकाशक अपनी लेखनी और पुरुषार्थ को सार्थक समझेंगे।

विनीत–रामप्रसाद वेदालंकार

ओ३म्

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।
वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों
का परम धर्म है। (महर्षि दयानन्द)

वेदाध्ययन

(ऋग्वेद–कुछ चुने हुए सूक्त, भाग–१)

अग्नि-सूक्त ॥ ऋग्वेद–मण्डल १ सूक्त १ मन्त्र १ –९ ॥
ऋषिः-मधुच्छन्दाः। देवता-अग्निः। छन्दः-गायत्री। स्वरः-षड्ज।

अग्निः–इस सूक्त का देवता 'अग्नि' है–अर्थात् इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय (Subject Matter) 'अग्नि' है। इस 'अग्नि' शब्द का सामान्य अर्थ अग्नि, अर्थात् यह भौतिक अग्नि–आग है। इस लिये इस अर्थ को लेकर पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना है कि–"प्राचीन आर्य इस 'अग्नि' को अपना प्रमुख देवता मानते थे। वे इस 'अग्नि' की बड़ी श्रद्धा से पूजा–उपासना किया करते थे। 1वे इसमें अपने मूल्यवान्

---

१. वे इसको पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम्र, और बिल्व आदि उत्तम काष्ठों की समिधाओं से, मन्त्रों से उद्बुद्ध एवं प्रज्वलित करते थे। फिर उसमें मिष्ट–गुड़, शकर, शहद, छुआरे, किशमिश और दाख आदि, पुष्ट–घृत; दुग्ध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़द आदि; रोग विनाशक–गिलोय आदि औषधियाँ और सुगन्धित–कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि, तथा भात, मोहन भोग आदि–आदि मूल्यवान् पदार्थों की आहुतियाँ मन्त्रोच्चारण पूर्वक बड़ी श्रद्धा से देते थे। फिर उसकी भस्म को अपने तन

से मूल्यवान् द्रव्यों को होमते थे।" परन्तु अग्नि परक सूक्तों के अध्ययन करने से केवल ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सर्वत्र

पर भी लगाते और औषधि रूप में भी प्रयाग करते थे। वे इस सब कार्य को करते हुए जहाँ अपने तन के स्वास्थ्य की कामना करते थे, वहाँ अपने मन और आत्मा के कल्याण का भी उसमें दर्शन–अनुभव करते थे…।

इस सम्बन्ध में अनेक मन्त्र भी मिलते हैं। जैसे—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ यजु० ३.१ ॥

हे मनुष्यो! तुम समिधाओं से अग्नि की पूजा करो– अर्थात् तुम समिधाओं से अग्नि को प्रज्वलित करो, फिर उस अतिथि के समान पूजनीय अग्नि देव को तुम घृत की आहुतियों से उद्‌बुद्ध करो–खूब प्रज्वलित करो। इस प्रकार जब अग्नि पर्याप्त प्रदीप्त हो जाए, तो फिर उसमें नानाविध मिष्ट–पुष्ट–रोगविनाशक और सुन्दर सुगन्धित हव्य द्रव्यों की भी श्रद्धा और प्रेम से आहुतियाँ दो। ऐसे और भी अनेक मन्त्र प्रमाण में दिये जा सकते हैं।

इस प्रकार यहाँ इस अग्नि का इस भौतिक अग्नि के रूप में ग्रहण किया गया है वा यज्ञाग्नि के रूप में ग्रहण किया गया है।'

तो वहाँ इसके विशेषण भी उसी प्रकार के मिलते हैं। इसलिये सायणाचार्य आदि ने मुख्यतया इन मन्त्रों को यज्ञपरक ही ग्रहण किया है। जैसे अग्नि को 'घृतपृष्ठ' (Butter backed) घृत की पीठ वाला; शोचिषकेश (Flame haird) प्रदीप्त ज्वालाओं के चमकीले केशों-वालों वाला; रक्त श्मश्रु (Touny beard) लाल दाढ़ी वाला; तीक्ष्णदंष्ट्र (Sharp jaws) तेज वा तीक्ष्ण जबड़ों वाला;

'अग्नि' से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जा सके। क्योंकि वहाँ अग्नि के जो विशेषण उपलब्ध होते हैं वे इस

रुक्मदन्त (Golden teath) स्वर्णिम दान्तों वाला कहा गया है। इसको 'हव्यवाट' यजमानों के हव्यद्रव्यों को वहन करने वाला-वायु आदि देवताओं के लिये हव्य ले जाने वाला भी कहा है। सूर्य और विद्युत के समान इसका प्रकाश बताया गया है। इसको सूर्य-चन्द्र के समान अन्धकार को हटाने वाला बताया है। यह रात्रि में प्रदीप्त होता है तो रात के प्रगाढ़ अन्धकार को यह भगा देता है। जब यह जंगलों को जला देता है तो यह उनको ऐसा साफ कर देता है जैसे कि एक नाई मनुष्य की दाढ़ी को मूण्ड कर साफ कर देता है। इसको धूमकेतु (धुँआ है केतु-झण्डा जिसका) ऐसा भी कहा जाता है। इस अग्नि का सम्बन्ध मनुष्यों से होने के कारण इसको अतिथि और गृहपतिः [अयमग्निर्गृहपतिः···] भी कहते हैं। यह कभी-कभी बहुत बड़ी हानि भी पहुंचा देता है तब भी यह अत्यन्त प्रिय एवं अत्यन्त पूज्य देवता माना जाता है।

इस प्रकार वेदों में इस अग्नि को भौतिक अग्नि के रूप में-यज्ञाग्नि के रूप में आधिदैविक रूप से विद्युत-सूर्य के रूप में, अधिलोक में राजा, सेनानीः, नेता, अग्रणी अगुआ, आगे ले जाने वाला ज्ञानी-विद्वान् पुरोहित आदि रूप में भी कहा गया है। अधिदैविक रूप में यह आत्मा परमात्मा के रूप में बहुत जगह दर्शाया गया, और वास्तव में यही अर्थ ही इसका मुख्य तात्पर्य है-अन्तिम उद्देश्य है-चरम लक्ष्य है।

भौतिक अग्नि में नहीं घटते। कई मन्त्रों में इस 'अग्नि' को 2सर्वज्ञ-सब को जानने वाला, सर्वत्र व्यापक-सब पदार्थों में

---

२. 'अग्नि'-परमेश्वर परक।

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।
विप्रासो जातवेदसः॥ ऋ० ८.११.५॥

अन्वयार्थः-(मर्ताः विप्रासः [वयं] अमर्त्यस्य जातवेदसः भूरि नाम मनामहे)।

मरणधर्मा हम विद्वान् कभी न मरने वाले अर्थात् अजर अमर सबमें विद्यमान रहने और सबको जानने हारे तुझ [प्रकाशस्वरूप] प्रभु के इन्द्र वरुण आदि बहुत से नामों को जानते और मानते हैं तथा उन पर मनन-चिन्तन आदि करते हैं।

इस मन्त्र में अमर्त्य-अमर; जातवेदा-सर्व व्यापक, सर्वज्ञ जो 'अग्नि' के विशेषण हैं वे इस भौतिक अग्नि पर चरितार्थ नहीं हो सकते, न ही ये विशेषण सूर्य, विद्युत और नेता विद्वान् राजा आदि में घट सकते हैं। अतः इससे सिद्ध है कि यहाँ इस मन्त्र में 'अग्नि' का अर्थ परमेश्वर ही है।

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥ऋ० ८.११.६॥

अर्थः-(विप्रासः मर्तासः ऊतये अवसे विप्रं देवम् अग्निं गीर्भिः हवामहे) हम विद्वान् जन तृप्ति और रक्षा के लिये सर्वत्र दिव्य प्रकाशस्वरूप प्रभु का वेदवाणियों से आह्वान करते हैं।

इस मन्त्र में भी 'विप्रम्' और 'देवम्' विशेषण 'अग्नि' के साथ लगे हुए हैं जो ईश्वर के वाचक है।

विद्यमान रहने वाला, सर्वद्रष्टा-सबको देखने वाला, सब प्रजाओं का स्वामी, सबको सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला, सब की सब वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को जानने वाला

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ऋ० १.१२.१॥

यहाँ भी 'अग्नि' परमेश्वर का वाचक है, क्योंकि 'विश्ववेदा:' और अस्य यज्ञस्य सुक्रतु:,-अर्थात् सब वैभवों का स्वामी सर्वत्र तथा इस संसार रूप यज्ञ का उत्तमकर्त्ता, इसके विशेषण हैं।

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः ।
समत्सु त्वा हवामहे ॥ऋ० ६.२.३३॥

हे [अग्ने !] ईश्वर ! ([त्वं] पुरुत्रा हि सदृङ् असि) सर्वत्र ही तू सर्वद्रष्टा वा सबको एक समान दृष्टि से देखने वाला है या सबके लिए एक समान रूप में तू विद्यमान है; और (विश्वा: विश: अनु प्रभु: [असि]) तू सब प्रजाओं का स्वामी है। अत: (समत्सु त्वा हवामहे) जीवन संघर्षों में हम तुझको पुकारते भजते. और ध्याते हैं।

यहाँ 'सदृङ्'-सर्वद्रष्टा वा सबके लिये एक समानरूप होकर सबको देखने वाला, और 'विश्वा: विश: प्रभु:'-इन विशेषणों से स्पष्ट है कि इस 'अग्नि' का अर्थ यहाँ भौतिक अग्नि' नहीं, आधिदैविक अग्नि-सूर्य विद्युत नहीं, वरन् अध्यात्म में परमात्मा ही है।

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे ।
दूतो जन्येव मित्र्यः ॥ऋ० २.७.७॥

अर्थ:—(कवे अग्ने !) हे क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ परमात्मन् !

बताया है। इसी प्रकार ऋषिः, पवमान, पुरोहित, विद्वान्, दूत, कविः, द्विजन्मा, सुतुकः आदि विशेषण भी इस भौतिक अग्नि में नहीं घटते। इस प्रकार अनेक ऐसे विशेषण हैं

(उभया जन्म विद्वान्) तुम हमारे दोनों अर्थात् पिछले अगले दोनों जन्मों और कर्मों के जानने वाले हैं। तुम (दूतः जन्येव मित्र्यः) हमें दूत के समान खबर देने वाले, सब जन्मों के लिये हितकारी जैसे हो वैसे, और मित्रता के लिये अत्यन्त साधु-श्रेष्ठ हो। ([त्वं] अन्तः हि ईयसे) तुम हृदय के भीतर ही प्राप्त होते हो। तुम्हारा प्रत्यक्ष हृदय के अन्दर ही होता है।

यहाँ 'अग्नि' से परमेश्वर का ही का ग्रहण होता है। क्योंकि यहाँ उसके विशेषण 'उभया जन्म विद्वान्, कवि, जन्य, अन्तः ईयसे, विशेषण इस भौतिक 'अग्नि' में संगत नहीं हो सकते।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव-
वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं
विधेम ॥यजु० ४०.१६॥

इस मन्त्र में 'अग्नि' के लिये जो 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्''-अर्थात् हमारी सब वृत्ति-प्रवृत्तियों को जानने वाला, सुपथ पर ले जाने वाला, पापों से दूर करने वाला-ये जो विशेषण आए हैं. ये इस भौतिक 'अग्नि' में तो घटते ही नहीं। हाँ सर्वज्ञ परमेश्वर में इनको सगति हो सकती है।

ऋग्वेद ३.१.७ के पूर्वार्ध में 'अग्नि' को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

जिनसे इस 'अग्नि' का वास्तविक रूप स्वाध्यायशील मनुष्य के सम्मुख आता है। सायणाचार्य आदि मध्यकालीन भाष्यकारों ने इस अग्नि शब्द से इस भौतिक अग्नि का ज्ञान

आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि
काव्यानि विद्वान्।

अर्थः-(अग्ने ! [त्वं] मन्द्रः, विश्वानि काव्यानि विद्वान्, देवानां केतुः अभवः) हे अग्नि अर्थात् ज्ञानी विद्वान् ! तू ज्ञानवान, सब वेद आदि काव्यों को जानने वाला होकर, अन्य सब देवों-विद्वानों का केतुः-झण्डे के समान नायक-नेता हुआ है।

इस मन्त्र में आए हुए 'अग्नि' शब्द से न ही भौतिक अग्नि का ग्रहण हो सकता है और न हि मुख्यतया परमेश्वर का किन्तु यहाँ ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण का ग्रहण करना संगत होगा।

अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ऋ०१.१४९.५॥

अर्थः-(अयं सः द्विजन्मा होता [भवति]) वह जो द्विजन्मा मातृ गर्भ से और फिर आचार्य से पूर्ण शिक्षालिया हुआ ज्ञानी ब्राह्मण होता है, वह (विश्वा श्रवस्था वार्याणि दधे) उसके लिये सब यशोवर्धक वरणीय ज्ञान ध्यान और उत्तम गुणों को धारण करता है. (यः सुतुकः मर्त्तः अस्मै ददाश) जो कोई अच्छी सन्तान वाला होकर इसके प्रति अपने को वा अपनी सन्तान को समर्पित कर देता है। इस मन्त्र से भी स्पष्ट है कि 'अग्नि' शब्द से यहाँ ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण का ही ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि यहाँ होता, द्विजन्मा शब्द उसके विशेषण हैं।

न करके अग्नि को अधिष्ठातृ देवता के रूप में ग्रहण किया है। अर्थात् इस भौतिक 'अग्नि' में जो सूक्ष्म देवता रहता है, उसी को 'अग्नि' नाम से पुकारा जाता है। परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्तानुसार 'अग्नि' शब्द एक यौगिक शब्द है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसके अनेक अर्थ होते हैं। आधि-

---

इस प्रकार वेद में 'अग्नि' शब्द से केवल इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण आर्य लोग नहीं करते थे जैसा कि पाश्चात्यों का विचार है, वरन् आर्य जन यथा प्रसंग 'अग्नि' शब्द से अन्य बहुत अर्थों का भी ग्रहण करते थे, और जहाँ वे अग्नि देव की आराध्य देव के रूप में पूजा करते थे. वह 'अग्नि' देव तो वह है, जो सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है सबको सुपथ पर ले जाने वाला और पाप-तापों से सदा दूर रहने की प्रेरणा करने वाला है। यह 'अग्नि' जैसे बाहर प्रकाश कर अन्धकार को दूर करता है, वैसे वह प्रभु हमारे हृदयान्तराल में विराजमान हुआ-हुआ हमारे भीतर के अविद्यान्धकार को हटाता है। अतः आर्य लोग जब भी उपासक बने, जब भी जप-ध्यान-भजन में प्रवृत्त हुए, तो वे उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप अग्निदेव की ही उपासना वा ध्यान में प्रवृत्त हुए। उसी में ही ध्यानावस्थित होकर उन्होंने वह पाया कि जिसके पाने के बाद कुछ और पाने को शेष न रहा, उसी में समाधिस्थ होकर उन्होंने वह जाना कि जिसके जानने के उपरान्त फिर कुछ जानने को शेष नहीं रहा। ऋषिवर दयानन्द ने इस सूक्त में मुख्यतया इस 'अग्नि' शब्द से उस परब्रह्म परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, गौण रूप से भौतिक अग्नि आदि का भी ग्रहण किया है।

भौतिक दृष्टि से इस 'अग्नि' शब्द का अर्थ है-"भौतिक अग्नि-आग।" आधिदैविक दृष्टि से इस 'अग्नि' शब्द का अर्थ विद्युत्, सूर्य आदि है। और अधिलोक की दृष्टि से इस 'अग्नि' शब्द से विद्वान्, देव, राजा, सेनानी, नेता और आध्यात्मिक दृष्टि से इस 'अग्नि' शब्द से आत्मा-परमात्मा का ग्रहण होता है। ऋषि दयानन्द ने इस सूक्त का अर्थ करते हुए 'अग्नि' शब्द से आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों का ग्रहण किया है। परन्तु मुख्य रूप से इस सूक्त में 'अग्नि' शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण किया है। ऋग्वेद १०.१६४.४६ में कहा भी गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० १०.१६४.४६॥

अर्थः—(एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति) एक सत् स्वरूप अर्थात् सदा एक रस रहने वाले वा निर्विकार परमेश्वर को बुद्धिमान् ज्ञानीजन अनेक प्रकारों से-अनेक नामों से पुकारते हैं। उसको वे (अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः) अग्नि, यम, और मातरिश्वा कहते हैं, (अग्निम् इन्द्रं मित्रं वरुणम् आहुः) उस अग्नि स्वरूप परमेश्वर को वे इन्द्र और वरुण नामों से कहते हैं, (अथो सः दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) तथा वह दिव्य सुपर्ण और गरुत्मान् भी है।

इस प्रकार यद्यपि वह परमात्मा एक ही है, तो भी बहु-

विध–नानाविध गुणों के कारण उसको भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। अर्थात् उस परमेश्वर के ये सब नाम उसके गुणों के कारण से हैं। जैसे ज्ञानस्वरूप-प्रकाशस्वरूप होने से उसका नाम 'अग्नि', सबका अपने न्याय नियमों से नियमन करने से उसका नाम 'यम', आकाश और जीव आदि में अन्तर्यामी रूप से व्यापक होने से उसका नाम 'मातरिश्वा', है। ऐसे ही ज्ञानस्वरूप, सबका अग्रणी होने से उसका नाम 'अग्नि', परमेश्वर्यों वाला होने से उसका नाम 'इन्द्र', सबका स्नेही होने से उसका नाम 'मित्र', सबके दोषों को दूर करने वाला और सबके लिये वरणीय एवं सर्वोत्तम होने से उसका नाम 'वरुण' है। ऐसे ही दिव्य-अद्भुत गुण, कर्म, स्वभावों वाला होने से यह 'दिव्य', अति उत्तम ज्ञान–कर्मों वाला होने से वह 'सुपर्ण', और गुरु–आत्मा–अत्यन्त महान् आत्मा अर्थात् परम आत्मा होने से वह 'गुरुत्मान्', कहाता है।

यजुर्वेद अध्याय ३२ में उसको अग्नि आदि नामों से स्पष्ट कहा गया है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

यजु० ३२.१ ॥

अर्थः—(तत् एव अग्निः, तद् आदित्यः, तद् वायुः, तद् उ चन्द्रमाः) सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव न्यायकारी दयालु अजन्मा सब जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और

संहर्त्ता परमेश्वर ही ज्ञानस्वरूप-प्रकाशस्वरूप होने से 'अग्नि' वही प्रलय काल में सबको ग्रहण करने से 'आदित्य', वही अनन्त बलवाला और सबका धर्त्ता होने से 'वायु', वही आनन्दस्वरूप एवं आनन्दकारी होने से 'चन्द्रमा' है। (तद् एव शुक्रं, तद् ब्रह्म, ताः आपः, सः उ प्रजापतिः [अस्ति]) वही शीघ्रकारी वा शुद्ध भाव से 'शुक्र'; वही सर्वतो महान् होने से 'ब्रह्म'; वही सर्वत्र व्यापक होने से 'आपः'; और वही सब प्रजा का पालन-पोषण करने से सबका स्वामी है।

यहाँ स्पष्टरूप से अग्नि आदि शब्द परमेश्वर के वाचक हैं, इसी बात को मनुस्मृति १२.१२३ में इस प्रकार कहा गया है।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

मनुस्मृति १२.१२३॥

अर्थः—(एतम् एके अग्निं, अन्ये प्रजापतिं मनुं वदन्ति) इस परमात्मा को कोई 'अग्नि' कोई अन्य प्रजापति और मनु कहते हैं। (एके इन्द्रम्, परे प्राणम् अपरे शाश्वतं ब्रह्म [वदन्ति]) इसी को कोई 'इन्द्र', कोई 'प्राण' और दूसरे कोई 'शाश्वत' 'ब्रह्म' कहते हैं।

प्रकाशस्वरूप होने से उसे अग्नि, सब प्रजा का पालन करने से प्रजापति, विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', परमैश्वर्यवान् होने से इन्द्र, सबका जीवन आधार होने से 'प्राण' और सदा

विद्यमान तथा सर्वतो महान् होने से 'शाश्वत ब्रह्म' कहाता है।

इस प्रकार इसी एक परमात्मा को अनेक गुणों के कारण कुछ विद्वान 'अग्नि' नाम से, कुछ 'इन्द्र' नाम से, कुछ 'प्रजापति' और कुछ ब्रह्म आदि नामों से कहते हैं।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि ये 'अग्नि' आदि शब्द केवल इन भौतिक पदार्थों के ही वाचक नहीं हैं, प्रत्युत विद्युत, सूर्य, ज्ञानी, विद्वान; राजा, सेनापति, नायक, आत्मा और परमात्मा का भी वाचक है। ऋग्वेद में इस प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में तथा आगे आने वाले अनेक सूक्तों में अग्नि का जिस प्रकार का वर्णन किया गया है, उसे देख कर 'अग्नि' का अर्थ इन प्रकरणों में परमात्मा ही मुख्यतया ग्रहण किया गया है।

और प्रसंगवश सूर्य, विद्युत्, ज्ञानी विद्वान् नेता और भौतिक अग्नि भी किया जाता है। अतः 'अग्नि' देवता वाले मन्त्रों में 'अग्नि' शब्द को देख एवं उसकी स्तुति प्रशंसा पूजा आदि को देख पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना सर्वथा अनुचित है कि आर्य लोग इस भौतिक 'अग्नि' के पुजारी थे। इस भौतिक 'अग्नि' में आहुतियाँ देकर भी जो समुचित लाभ उठाए जा सकते थे, वे आर्य, उठाते थे। पर पूज्य एवं आराध्य रूप में जो आर्यों का देवता था, है और होगा, वह तो प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी अजर-अमर सर्वत्रगतिमान् परमेश्वर ही है, ऐसा अनेकत्र वेद मन्त्रों में सप्रमाण देखा जाता है। ◎

ऋषि:—मधुच्छन्दाः । देवता-अग्निः । छन्दः—गायत्री । स्वरः—षड्जः । ऋग्वेद-मण्डल १. सूक्त १ मन्त्र १-६ ॥

मैं प्रभु को स्तुति करता हूं ।

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

अन्वयः—पुरोहितं, यज्ञस्य देवं, ऋत्विजं, होतारं रत्न-धातमम् अग्निम् [अहं] ईडे ।

संक्षिप्त अन्वयार्थः—पुरोहित, यज्ञ के देव, ऋत्विक्, होता, अतिशय रमणीय रत्नों के धारण करने और कराने वाले इस भौतिक 'अग्नि' वा ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूँ ।

(१) अन्वयार्थः—(पुरोहित) सृष्टि-उत्पत्ति के समय से पूर्व हि विद्यमान सदा सबका हित करने वाले (यज्ञस्य देवम्) सृष्टि—उत्पत्तिरूप महान् यज्ञ के प्रकाशक (ऋत्विजम्) ऋतु-ऋतु में यजनीय—पूजनीय वा ऋतु-ऋतु के अनुसार यज्ञ करने वाले—ऋतु-ऋतु के अनुसार नानाविध खाद्य-पेय आदि पदार्थों को उत्पन्न कर सबकी जाठराग्नियों में उन का यजन करने वाले (होतारम्) सब सुखों के दाता वा सबको सब प्रकार के सुख—सौभाग्यों के प्रदान करने वाले (रत्नधातमम्) सब प्रकार के रजत, स्वर्ण, हीरे मोती आदि पदार्थों के अत्यन्त धारण करने—कराने वाले (अग्निम् ईडे) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूं ।

जो परमपिता परमेश्वर इस महान् सृष्टि रूप यज्ञ का पुरोहित है. जो इसके बनने के पूर्व से ही विराजमान है, जो इसकी रचना से सब का हित साधता है, जो इस संसार रूप महान् यज्ञ, का कर्त्ता है. जो ऋतु के अनुसार सब प्रकार के खाद्य-पेय-लेह्य-चूष्य आदि पदार्थों को उत्पन्न कर सबकी जाठराग्नियों में उनको होमने वाला सच्चा होता है, जो अतिशय करके स्वर्ण रजत मणि माणिक्य आदि उत्तम रत्नों का धारण करता और कराता है, उस अग्निस्वरूप-ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूँ-पूजा करता हूँ।

(२) अन्वयार्थः—(पुरोहितम्) पुरः हित अर्थात् सदा सम्मुख स्थित रहने वाले (यज्ञस्य देवम्) श्रेष्ठतम यज्ञमय उत्तम कर्मों के प्रकाशक (ऋत्विजम्) प्रत्येक ऋतु में पूजनीय (होतारम्) सब प्रकार के सांसारिक सुख-सौभाग्यों तथा आन्तरिक आनन्दों के दाता (रत्नधातमम्) दिव्य गुण कर्म स्वभाव रूप रमणीय रत्नों को अतिशय करके स्वयं धारण कर अलंकृत रहने वाले एवं अपने समीप आए हुए उपासकों को धारण करा कर समलंकृत करने वाले (अग्निम् ईडे) ज्योतिर्मं ज्ञान के अद्वितीय स्रोत प्रभु का मैं श्रद्धा भक्ति और प्रेम से स्तवन करता हूँ।

सदा सम्मुख उपस्थित रहने वाले, यज्ञ आदि शुभ कर्मों का उपदेश करने वाले, सर्वदा सर्वत्र पूजनीय, सुख शान्ति एवं आनन्द के दाता दिव्य गुण कर्म स्वभावों के धारण करने-कराने हारे पावन परमेश्वर की श्रद्धा भाव से ओत-प्रोत होकर उपासक को उपासना करनी चाहिये। ◎

मैं ज्ञानी विद्वान् पुरोहित की पूजा करता हूं ।

(३) अन्वयार्थः—(पुरोहितम्) पहले से ही हित करने के कारण सदा सम्मुख वर्तमान रहने वाले (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का प्रकाश करने वाले (ऋत्विजम्) ऋतु-ऋतु के अनुसार यथोचित घृत सामग्री से यज्ञ करने-कराने हारे या समयानुसार यज्ञ-संस्कार आदि करने-कराने हारे (होतारम्) कल्याणमय पथ पर अग्रसर होने के लिये सदुपदेश देने वाले (रत्नधातमम्) उत्तम गुण कर्म स्वभावरूप रमणीय रत्नों को धारण करने हारे (अग्निम् ईड) ज्ञान-प्रकाश के धनी अग्रणी नेता ज्ञानी-विद्वान् की मैं दिल से स्तुति-प्रशंसा करता हूँ, पूजा करता हूँ, और जी जान से उसके ज्ञान प्रकाश से अपने हृदय को प्रकाशमान करता हुआ तदनुसार आचरण भी करता हूँ ।

हमें चाहिये कि हम उस अपने सच्चे हितैषी पुरोहित की सदा पूजा करें, उसकी सदा सेवा-शुश्रूषा करें, जो कि व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिये समय-समय पर यज्ञ आदि शुभ कर्मों का सम्पादन करता रहता है और उन शुभ कर्मों के माध्यम से सदा अपने एवं अपने अनुयायियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों से अलंकृत करता रहता है ।◎

वह अग्नि-प्रभु पर-अवर ऋषियों से स्तुत्य है ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥२॥

अन्वयः—[अयम्] अग्निः पूर्वेभिः उत नूतनैः ऋषिभिः ईड्यः [अस्ति] । सः इह देवान् आवक्षति ।

सं० अन्वयार्थ:—वह अग्नि पुरातन और नूतन के द्वारा स्तुत्य है क्योंकि वह हमें यहाँ देवों को प्राप्त कराता है।

अन्वयार्थ:—(अग्नि:) वह ज्ञानस्वरूप सबको आगे ले चलने वाला परमेश्वर (पूर्वेभि: उत नूतनै: ऋषिभि: ईड्य:) प्राचीन और अर्वाचीन सभी ऋषियों के द्वारा स्तुत्य है—पूज्य है, या विद्या की दृष्टि से प्राचीन और नवीन अर्थात् गुरु और शिष्य-सभी के द्वारा स्तुति प्रार्थना और उपासना करने के योग्य है। क्योंकि स्तुति को प्राप्त हुआ-हुआ वह परमेश्वर (इह देवान् आवक्षति) इस संसार में हमें उपासकों सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दिव्य देवों को प्राप्त कराता है या इस मानव जीवन में हमें दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि हम उस प्रकाश-स्वरूप प्रभु की उपासना क्यों करें? क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप प्रभु प्रत्येक युग के पुराने और नए—पहले और अब के—सभी ऋषि-मुनि ज्ञानी-ध्यानी गुरु और शिष्यों, पिता और पुत्रों आदि-आदि के द्वारा सदा पूजनीय रहा है, और होगा। और फिर उसी की कृपा से हमें इस जगत् में इन सूर्य चन्द्र वायु आदि देवों की प्राप्ति होती है या उसी की अनुकम्पा से हमें दिव्य गुण कर्म स्वभावों की प्राप्ति होती है। ⊙

उस परमेश्वर की उपासना का क्या लाभ है?

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥

अन्वय:—अग्निना दिवे दिवे पोषम् एव, यशसं वीरवत्तमं रयिम् अश्नवत्।

सं० अन्वयार्थ:—उपासक इस अग्नि से दिन-प्रतिदिन पुष्टियुक्त, यशोमय प्राणप्रद ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

(१) अन्वयार्थ:—(अग्निना) इस प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की अपार अनुकम्पा से उपासक (दिवे दिवे पोषम् एव) दिनों दिन-उत्तरोत्तर शरीर-आत्मा को पुष्ट करने वाले, (यशसम्) यश प्रदान करने वाले, (वीरवत्तमम्) अत्यन्त शक्ति सम्पन्न विद्वान् शूरवीरों से चाहने योग्य, (रयिम्-अश्नुवत्) धन-ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

उस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के सान्निध्य में बैठकर उसकी कृपा से मनुष्य ऐसे दिव्य धन-ऐश्वर्य को प्राप्त होता है-मनुष्य ऐसी आभ्यान्तरिक समृद्धि को प्राप्त करता है, जो दिन ब दिन-प्रतिदिन पुष्ट-परिपुष्ट ही होती रहती है। कभी क्षीण तो वह होती ही नहीं है। वह सदा यशोवर्द्धक एवं बलवर्धक ही होती रहती है। इस प्रकार यहाँ इन तीनों विशेषणों से दिव्य सम्पत्ति को लौकिक सम्पत्ति से उत्कृष्ट बताया गया है।

(२) अन्वयार्थ:—(अग्निना) इस ज्ञान प्रकाश के धनी विद्वान् के सम्पर्क से मनुष्य (दिवे दिवे पोषमेव) दिनों दिन शरीर मन बुद्धि आत्मादि को पुष्ट करने वाले (यशसम्) पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने से यश प्रदान करने वाले

(वीरवत्तमम्) अतिशय, धीर-वीर, जिज्ञासु श्रद्धालु श्रोताओं से [श्रावणार्थ] युक्त करने वाले (रयिम् अश्नवत्) ज्ञान रूप दिव्य धन को प्राप्त होता है।

(३) (अग्निना रयिम् अश्नवत्) इस यज्ञाग्नि से-ऋतु-ऋतु में अर्थात् प्रत्येक ऋतु में, ऋतु के अनुकूल घृत सामग्री द्वारा श्रेष्ठतम कर्म से मनुष्य ऐसे स्वास्थ्यादि रूप दिव्य धन को प्राप्त करता है जो (पोषमेव दिवे दिवे) दिन प्रति दिन पुष्ट-परिपुष्ट होता रहता है, (वीरवत्तमम्) अतिशय वीर पुत्रादिकों से मनुष्य को युक्त करता है।

ऐसे उत्तम यज्ञमय कर्मों से मनुष्य जिस उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त होता है-फिर वह इन सत्कर्मों एवं ऐश्वर्यों से दिनों दिन पुष्ट-परिपुष्ट होता जाता है, सदा बढ़ता ही रहता है। निरभिमान होकर यज्ञ एवं उसमें दान आदि उत्तम कर्मों से उसको फिर सर्वत्र स्नेह सम्मान और यश भी प्राप्त होता रहता है। वह गृहस्थ होता है तो वह इन उत्तम गुण कर्म स्वभावों के कारण अत्यन्त धीर-वीर उत्तम पुत्र-पौत्रादिकों को प्राप्त होता है। और यदि वह गृहस्थ न होकर विरक्त ज्ञानी ध्यानी साधु सन्त होता है, तो फिर उसको अत्यन्त धीर-वीर शिष्यों की प्राप्ति होती है।

—0—

मनुष्य हिंसारहित उत्तम कर्मों से ही ऊपर उठता है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति ॥४॥

अन्वयः—अग्ने! [त्वम्] यम् अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः असि। सः [यज्ञः] इत् देवेषु गच्छति।

सं० अन्वयार्थः—हे प्रभो! तू जिस हिंसा रहित यज्ञ को सब ओर से व्याप्त कर लेता है, वही यज्ञ देवों को पहुँचता है।

अन्वयार्थः—(अग्ने! यं अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः असि) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! तुम जिस हिंसा रहित–सर्वथा मन वचन कर्म से हिंसा आदि दोषों से शून्य, निष्काम परोपकार-मय उत्तम कर्म को, सब ओर से अभिव्यप्त कर लेते हो–घेर लेते हो, (सः इत् देवेषु गच्छति) वह सर्वथा हिंसारहित उत्तम परोपकारमय निष्काम दिव्य यज्ञमय कर्म ही देवों में जाता है–देवों में फैलकर सबको लाभ पहुँचाता है।

मनुष्य को दिव्य एवं आनन्दमय बनाने वाला यदि संसार में कोई मुख्य कर्म है, तो वह केवल श्रेष्ठतम उत्तम कर्म यज्ञ ही है। परन्तु यह यज्ञमय उत्तम कर्म भी तभी ही उसको दिव्य गुणों कर्म, स्वभावों वाला एवं आनन्दमय बना सकता है, जबकि वह सर्वथा हिंसादि दोषों से शून्य एवं निष्काम हो, तथा ज्ञानस्वरूप प्राणप्रिय दिव्य प्रभु से अभिव्याप्त हो–अनुमोदित हो। वास्तव में जब मनुष्य का पुरुषार्थ हो और प्रभु की कृपा हो तभी ही मनुष्य का पूर्ण कल्याण होता है।

दिव्य गुणों से प्रभु प्राप्त होता है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत् ॥५॥

अन्वयः—अग्निः होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः देवः देवेभिः आगमत्।

सं० अन्वयः—अग्नि स्वरूप, सब सुखों का दाता, क्रान्तप्रज्ञ और क्रान्तकर्मा, सत्यस्वरूप, अत्यन्त पूज्य वा विचित्र कीर्ति वाला दिव्य देव दिव्य गुण कर्म स्वभावों द्वारा हमें प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—(अग्निः) वह प्रकाशस्वरूप (होता) सर्वविध सुख-सौभाग्यों का प्रदान करने वाला (कविक्रतुः) अतीन्द्रियार्थदर्शी—अर्थात् अतीन्द्रिय-सूक्ष्मविषयों को भी जानने हारा अप्रतिहत गतियों—कर्मों वाला, (सत्यः) सत्यस्वरूप अविनाशी सर्वव्यापक होते हुए भी सज्जनों के हृदयों में विशेषरूप से वर्तमान रहने वाला, (चित्रश्रवस्तमः) अद्भुत वा पूजनीय कीर्ति वालों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। ऐसा वह (देवः) परम देव (देवेभिः आगमत्) देव जनों के साथ समागम करने से प्राप्त होता है वा दिव्यगुण कर्म-स्वभावों द्वारा प्राप्त होता है या दिव्य गुणों के साथ प्राप्त होता है।

वह ज्ञानस्वरूप सब सुखों का दाता है। वही सब संसार का जानने और रचने हारा है। सदा सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी वह सज्जनों के अनुभवों में अभिव्यक्त होता है। वह अत्यन्त पूजनीय एवं अद्भुत व्यक्तित्व वालों में भी उत्कृष्टतम है। उस अनुपम दिव्य देव को यदि कोई जानना चाहे तो

उसे चाहिये कि दिव्य गुण कर्म स्वभावों से अपने को अलंकृत करे। अर्थात् (देवो भूत्वा देवं भजेत्), वह स्वयं दिव्य गुणों से देव बनकर उस परमदेव का भजन करे। इसके लिये वह देवों का सङ्ग करे। उनके सङ्ग से वह अभ्यासी बनकर योगाभ्यास करे और प्रभु को पाने का प्रयास करे। जब भी प्रभु उस पर कृपालु होकर उसको दर्शन देगा, तो वह उसमें अपने दिव्य गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान होगा, तभी तो वह निहाल होगा, कृतार्थ होगा।

दाश्वान्—दाता का भला तो भगवान् ही करता है।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥६॥

अन्वयः—अङ्ग अग्ने! त्वं दाशुषे यद् भद्रं करिष्यसि। अङ्गिरः! तत् तव सत्यम् व्रतम्।

सं० अन्वयार्थः—हे सबके अङ्गभूत सर्वमित्र सर्वाग्रणी परमेश्वर! तू दाश्वान्—दाता का जो भला करता है। हे अङ्ग-अङ्ग में रमने वाले प्रभुवर! वह भद्र—भला करना तेरा निश्चित नियम है।

अन्वयार्थः—(अङ्ग अग्ने!) हे अङ्ग के तुल्य प्यारे एवं सब जग से न्यारे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (त्वं दाशुषे यत् भद्रं करिष्यसि) तुम दानशील, स्वात्म समर्पण करने वाले उपासक का जो भद्र—भला करते हो—कल्याण करते

हो,–(अङ्गिरः ! तत् तव सत्यम इत्) हे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के अङ्ग–अङ्ग में अन्तर्यामी रूप से, विद्यमान रहने और रमने वाले प्यारे प्रभुवर ! (तत् तव सत्यम् इत्) वह तुम्हारा सत्यव्रत ही है–वह तुम्हारा, अटल–निश्चल विधान ही है।

वह ज्ञानस्वरूप अग्रणी परमेश्वर अङ्ग के तुल्य प्रिय हैं। वह हमारे इस पिण्ड में और ब्रह्माण्ड में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान हुआ–हुआ इसकी रक्षा करता रहता है। वह इसके अङ्ग–अङ्ग में रस का सञ्चार करता है, तभी तो वह 'अङ्गिरसः' अङ्गिरा कहलाता है। इस संसार में जो भी मनुष्य उसके प्रति अपने आपको समर्पित करता है तो फिर वह अङ्गिरस परमेश्वर, उसके अंग–अंग में रस का सञ्चार कर ठीक वैसे ही उसका भद्र–भला करता है जैसे कि एक माँ अपने प्रति पूर्णतया समर्पित बालक को दुग्धामृत का पान करा कर उसके अंग में रस–शक्ति का सञ्चार कर उसको तृप्त करती है। अपने प्रति समर्पित बालक का भद्र–कल्याण करना जैसे माँ का निश्चित नियम होता है–दृढ़व्रत होता है, ऐसे ही समर्पित साधक का सब प्रकार से भद्र-कल्याण करना उस प्राणप्रिय प्रभु का निश्चित व्रत होता है।

अधियज्ञ अर्थ में–स० अन्वयार्थ;–हे प्रभो ! तू जो दाश्वान् यजमान का भद्र करता है, यह तेरा निश्चित नियम है। अर्थ –(अंग अग्ने) हे अग्निदेव ! (त्वं दाशुषे यत् भद्रं करिष्यसि) तू जो हवि प्रदान करने वाले यजमान् को लोक

में सुख प्रदान कर, परलोक में उसका कल्याण करता है। यह तेरा सत्य व्रत है-निश्चल नियम है।

जो भी दाश्वान् यजमान इस अग्नि में मिष्ट पुष्ट रोग-विनाशक और सुगन्धित हव्य-द्रव्यों की आहुतियाँ प्रदान करता है यज्ञ के ब्रह्मा आदि का भोजन-अच्छान और दक्षिणा आदि से सम्मान करता है, दीन दुःखी अनाथों की भी यथोचित सहायता-सहयोग करता है, इससे निश्चित ही वह तन से नीरोग-स्वस्थ सशक्त और मन से शान्त तथा आत्मा से भी प्रसन्न रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसका सब प्रकार से भद्र-भला होता है॥

—※—

हम प्रातःसायं प्रभु का भजन करते हुए उसको प्राप्त हों।

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।

नमो भरन्त एमसि ॥७॥

अन्वयः-अग्ने! वयं दिवे दिवे दोषावस्तः धिया नमः भरन्तः त्वा उप-एमसि।

सं० अन्वयार्थः-हे ज्ञान प्रकाश के अद्वितीय स्रोत प्रभुवर! हम प्रति दिन रात-प्रभात=सायं-प्रातः बुद्धि पूर्वक नम्र भाव को धारण करते हुए तुझको प्राप्त होते हैं या प्राप्त हों।

अन्वयार्थः—(अग्ने!) हे सबको आगे बढ़ाने और ऊपर उठाने वाले ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (वयं दिवे दिवे दोषावस्तः)

हम प्रति दिन निरन्तर साँझ-सवेरे [धिया नमः भरन्तः] बुद्धि पूर्वक-ज्ञान और कर्म पूर्वक अपने हृदय में नम्रता को धारण करते हुए [त्वा उप आ-इमसि] तेरे समीप आ रहे हैं।

उपासकों को चाहिये कि वे प्रति दिन, प्रति दिन में भी प्रति रात और प्रति प्रभात अर्थात् सायं-प्रातः उस ज्ञान-स्वरूप प्रभु की शरण में जायें। उनके जीवन में न कोई ऐसा दिवस-दिन आए और न ही कोई ऐसा साँझ-सवेरा आए जब कि वे अपने आराध्य देव की शरण में न जाएँ। क्योंकि जो कुछ उसकी शरण में उपलब्ध हो सकता है वह अन्यत्र लाख सिर पटकने से भी नहीं प्राप्त हो सकता।

उपासकों को अवश्य ही उस प्रकाशस्वरूप प्रभु की शरण में जाना चाहिये। क्योंकि उसी की उपासना ही से उनके हृदय का अन्धकार छिन्नभिन्न हो सकेगा।

उपासक धिया-बुद्धिपूर्वक अर्थात् ज्ञान पूर्वक एवं कर्म-अर्थात् आचरणपूर्वक उसके समीप जाए। क्योंकि ज्ञान एव कर्म पूर्वक साधना करते हुए ही मनुष्य की साधना सफल होती है। ◎

फिर वह प्रभु कैसा है ?

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

अन्वयः-[वयं] राजन्तम्, अध्वराणां गोपां ऋतस्य दीदिवं, स्वे दमे वर्धमानम् [अग्निम् उपेमसि]

सं० अन्वयार्थः—ज्ञान ज्योति से देदीप्यमान, हिंसारहित शुभ कर्मों के रक्षक, सत्य ज्ञान के प्रकाशक अपने परम धाम में खूब बढ़े हुए अग्नि स्वरूप परमेश्वर को हम प्राप्त होते हैं वा होवें।

अन्वयार्थः-(राजन्तम्) सकल संसार के अधीश्वर वा ज्ञान प्रकाश से प्रकाशमान (अध्वराणां गोपाम्) हिंसारहित यज्ञमय उत्तम कर्मों के रक्षक, (ऋतस्य दीदिवं) सब सत्य विद्याओं के अद्वितीय स्रोत वेदज्ञान के प्रकाश करने वाले (स्वे दमे वर्धमानं) अपने परमानन्द स्वरूप में सबसे अधिक बढ़े हुए ज्ञानस्वरूप परमेश्वर को हम उपासनारूप योग से प्राप्त होते हैं वा होवें।

उपासकों को चाहिये कि वे सत्यज्ञान के अद्वितीय स्रोत वेद का स्वाध्याय कर हिंसारहित यज्ञमय उत्तम कर्मों का आचरण करते हुए श्रद्धा भक्ति और प्रेम से योगाभ्यास करते हुए उस आनन्दस्वरूप सर्वाग्रणी परमेश्वर को प्राप्त होवें।

※

प्रभो ! तू पिता के समान हमें सहज प्राप्त हो और हमारा कल्याण कर।

सः नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

अन्वयः—अग्ने ! [त्वम्] सूनवे पिता इव नः सु-उपायनः भव [एवं] स्वस्तये नः सचस्व।

सं० अन्वयार्थः—हे अग्निस्वरूप प्रभो! वह तू पुत्र के लिये पिता के तुल्य हमें प्राप्त हो, और कल्याण के लिये तू हमें अपना, वह तू हमें अपने से संयुक्त कर।

अन्वयार्थः—(अग्ने!) हे ज्योतिर्मय परमेश्वर! (सः [त्वं] सूनवे पिता इव) वह तू पुत्र के लिये पिता की भान्ति हमें सहज सुलभ हो, सुख से प्राप्त होने योग्य हो, वा पिता की तरह सुख के साधन रूप उत्तमोत्तम ज्ञान और पदार्थों को प्राप्त कराने वाले होओ वा उत्तमोत्तम सुखकर आनन्दवर्धक उपायनों-प्रेम की भेंटों वाले होओ। इस प्रकार तू [नः स्वस्तये सचस्व] हमें सुख और आनन्द के लिये-हमारे अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये हमें प्राप्त हो-हम से जुड़ो-हम से संयुक्त होओ।

उपासक को चाहिये कि वह परमेश्वर को अपना पिता जानकर और मानकर सहज उसकी शरण में जाकर उसको पूर्ण श्रद्धा भक्ति और प्रेम से पिता पुकारे, तब फिर वह सहज ही उसको प्राप्त होकर उसके योगक्षेम का वहन करते हुए उसको जहाँ सांसारिक लाड-प्यार के उपायनों-भेंटों से कृतार्थ करेगा, वहाँ वह आन्तरिक प्यार-आनन्द से भी उसे कृतकृत्य करेगा।

—◎—

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १२ मन्त्र १ से १२

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥ मन्त्र० १–१२॥

हम दूत रूप सर्वज्ञ परमेश्वर का वरण करते हैं।

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥

अन्वयः—[वयं] अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं विश्ववेदसं होतारं दूतम् अग्निं वृणीमहे ।

सं० अन्वयार्थः—इस संसार वा देह रूप यज्ञ के कर्ता-इस ब्रह्माण्ड वा पिण्ड के कर्त्ता सर्वज्ञ, सब प्रकार के सुख-सौभाग्यों के दाता, दूत रूप में खबर देने वाले, प्रकाशस्वरूप प्रभु का हम वरण करते हैं।

अन्वयार्थः—[अस्ययज्ञस्य सुक्रतुम्] इस पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड रूप दिव्य यज्ञ के उत्तम कर्ता (विश्ववेदसम्) सर्व-विध धन-वैभवों के स्वामी एवं सबको सब प्रकार से जानने हारे [होतारम] सब सुखों एवं सुख के साधनों को देने हारे [दूतम] पहले खबर देने वाले—सन्मार्ग की ओर चलने की प्ररणा देने वाले और तदनुसार न चलने पर फिर खबर लेने वाले अर्थात् कर्मानुसार दण्ड देने वाले (अग्निं [वयं] वृणीमहे) प्रकाशस्वरूप सबको आगे बढ़ाने और ऊपर उठाने वाले प्रभु का हम वरण करते हैं।

उपासकों को चाहिये कि वे अपने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये उस परमेश्वर का वरण करें, जो ज्ञानस्वरूप है, सब प्रकार के सुख-सौभाग्यों को प्रदान करने वाला है, विश्वभर के धन-वैभव का स्वामी है, और विश्व भर को सब प्रकार

से जानने हारा है, जो इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड रूप महान् यज्ञों का अद्वितीय कर्ता-धर्ता और संहर्ता है, जो दूत के समान पहले सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा-सूचना देता है, तदनुसार चलने पर शाबाश देता है और न चलने पर फिर ऐसा उपतप्त करता है कि मनुष्य फिर भविष्य में उस राह पर चलने से तौबा करता है।

※

बुद्धिमान पुरुष पुरुप्रिय-बहुप्रिय प्रभु का आह्वान करते हैं।

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्।
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥

अन्वयः-पुरुप्रियं विश्पतिम् हव्यवाहं अग्निम् अग्निं हवीमभिः सदा हवन्त।

सं० अन्वयार्थः—[मेधातिथि-बुद्धिमानी से सदा आगे बढ़ने वाले मनुष्य] बहुत प्रिय, सब प्रजा के स्वामी, सब हव्यों को वहन करने वाले सर्वाग्रणी और सबको आगे ले जाने वाले प्यारे प्रभु का अपने आह्वानों से सदा आह्वान करते हैं।

अन्वयार्थः—साधक (पुरुप्रिय) अत्यन्त प्रिय वा आत्मा को अत्यन्त तृप्त करने वाले (विश्पतिम्) सकल संसार के रक्षक (हव्यवाहम्) सब प्रकार के हव्य-खाने पीने योग्य पदार्थों के प्राप्त कराने वाले [अग्निम् अग्निम्] सबको आगे ले जाने

वाले सर्वाग्रणी परम पिता परमेश्वर का (हवीमभिः सदा हवन्त) अपनी हार्दिक आन्तरिक पुकारों से सदा आह्वान करते हैं।

जो मेधातिथि होते हैं, जो अपने हर कार्य को मेधा-बुद्धिपूर्वक करते हैं-जो हर काम सोच विचार कर करते हैं, वे अपने जीवन में उसका आह्वान् करते हैं जो पुरुप्रिय हो, जो बहुत प्यारा हो-जो अत्यन्त तृप्त करने वाला हो, जिसके तृप्त करने पर फिर कहीं ओर दृष्टि-निगाह जाती ही न हो। वह उसको पुकारता है जो सब प्रजा का रक्षक है-पालक पोषक है। वह छोट-मोटे किसी और व्यक्ति का आह्वान ही नहीं करता। वह पुकारता है, 'हव्यवाहम्'-उस 'हव्यवाह' को जो प्राणीमात्र के लिये सदा सर्वदा नाना प्रकार के अन्न फल-फूल कन्द आदि को ढोता रहता है, वह आन्तरिक टीसों के साथ उसको पुकारता है जो सबका अग्रणी-अगुआ है जो सबका नेतृत्व कर सबको सुपथ पर ले जाना चाहता है। साधक-ज्ञानी बुद्धिमान् जब भी कभी पुकारता है, तो वह उसी को ही पुकारता है और कहता है-

अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमः उक्तिं विधेम॥

॥यजु० ४०.१६॥

—❀—

हे प्रभो ! तू हमें दिव्य गुणों को प्राप्त करा ।

अग्ने देवाँ इहावह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।
असि होता न ईड्यः ॥३॥

अन्वयः—अग्ने ! जज्ञान : वृक्तबर्हिषे [त्वम्] इह देवान् आवह । [त्वं] नः ईड्यः होता असि ।

सं० अन्वयार्थः—हे तेजोमय प्रभुवर ! साधना से प्रकाशमान हुए-हुए, उत्पन्न-प्रकट हुए-हुए तुम, साधनार्थ बैठे हुए साधक के लिये तू यहाँ देवों को प्राप्त करा । तू ही हमारा स्तुत्य-पूज्य होता है ।

अन्वयार्थः—(अग्ने !) हे ज्ञानस्वरूप प्रभुवर ! (जज्ञानः) ज्ञान और कर्म रूप अरणियों से, अर्थात् ज्ञानपूर्वक आचरण से हृदय में प्रादुर्भूत-प्रकट हुआ-अनुभव में आया हुआ तू (वृक्तबर्हिषे) जिसने अपने हृदय की वासनाओं को उखाड़ फेंका है, ऐसे वृक्तबर्हिः-वासनाशून्य पवित्र हृदय वाले साधक के लिये (इह देवान् आवह) इस जीवन में दिव्य गुण-कर्म स्वभावों को प्राप्त करा । क्योंकि वासनाशून्य-शुद्ध पवित्र हृदय रूप क्षेत्र ही दिव्य गुणों के बीज बोने का समुचित स्थान है । [हम यह प्रार्थना तुझ से इसलिये कर रहे हैं कि] ([त्वं] नः ईडयः होता असि) तू ही हमारा स्तुत्य-पूज्य होता=पुकार-प्रार्थना सुनने वाला और हमको अपने दोनों ओर के अद्वितीय प्यार से कृतार्थ-निहाल करने वाला है ।

ज्ञान-कर्म रूप अरणियों की रगड़ से–ज्ञान के अनुरूप आचरण करने से उपासक के हृदय में जब सूर्य के समान उस प्रकाशस्वरूप प्रभु का उदय होता है, और इधर 'वृक्तबर्हिषे' जो अपनी वासनाओं को वरजते-वरजते-अपने हृदय को वासना शून्य अर्थात् सर्वथा स्वच्छ-निर्मल पवित्र बना लेता है, तो फिर जैसे उदय होते ही सूर्य अपनी रश्मियों से सबको आलोकित–प्रकाशित एवं तेजोमय बना कर नानाविध शक्तियों से युक्त करता है, ऐसे वह प्रकाश-स्वरूप प्रभु फिर उसको उत्तम दिव्य गुण कर्म स्वभावों से युक्त करता है। भक्तों–उपासकों का तो फिर एक मात्र वही परमेश्वर ही स्तुत्य–उपास्य–पूज्य हो जाता है, और फिर वे सब अपनी हर परिस्थिति में उसी का ही आह्वान करते हैं और वह भी फिर उनकी हर प्रकार की पुकार को सुनकर उन्हें निहाल–कृतार्थ करता है।

—◎—

प्रभो ! तू अपने उपासकों को विशेष बोध दे।

ताँ उशतो वि बोधय यदग्ने यासि दूत्यम् ।
देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥४॥

अन्वयः—अग्ने ! यत् [त्वं] दूत्यं यासि, देवैः बर्हिषि आसत्सि। उशतः तान् विबोधय।

सं० अन्वयार्थः—हे प्रभो ! जब तू दूत कर्म को प्राप्त होता है, तो तू दिव्य गुणों, देवों के साथ हमारे हृदयासन वा इस आसन

पर आविराजमान होता है। तू अपने चाहने वाले उन देवों को विशेष बोध करा।

अन्वयार्थ :—(अग्ने !) हे ज्ञान प्रकाश के अद्वितीय स्रोत परमेश्वर ! (यत् त्वं दूत्यं यासि) जब तुम दूतकर्म को करते हो [ये सांसारिक दूत तो अन्यों के सन्देश को ही हमें प्राप्त कराते हैं पर तुम अपने ही सन्देश को हमें प्राप्त कराते हो] तो तुम (देवैः बर्हिषि आससि) दिव्य गुणों के साथ ही हमारे वासना शून्य=शुद्ध-पवित्र हृदयासन पर आविराजमान् होते हो। हे प्रभुवर ! (उशतः देवान् त्वं विबोधय) जो देव दिल से तुझे और तेरे बोध-ज्ञान को चाहते हैं उन अपने चाहने वाले दिव्य गुण कर्म स्वाभावों वाले साधकों को तू विशेष बोध करा-विशेष बोध प्राप्त करा।

प्रभु जब भक्त को अपना सन्देश देता है-जब कोई प्रेरणा देता है तो फिर मानों अपने दिव्य गुण कर्म स्वभावों के साथ उसके स्वच्छ निर्मल वासना शून्य-पवित्र हृदय पर ही आविराजमान् होता है। फिर वह अपने उन चाहने वाले उपासकों को वह बोध विशेष प्राप्त कराता है कि जिससे फिर वे संसार में रहते हुए भी संसार-सागर पर तैरते रहते हैं। तथा जग में रहते हुए भी हृदय में विराजमान अपने प्राणप्रिय प्रभु के हो बने रहते हैं। तब वे जग में रहते हुए भी जगदीश्वर के दिव्य आनन्द में सदा डूबे रहते हैं।

—◎—

प्रभो ! तू हमारे भीतर--बाहर के शत्रुओं का
दहन कर।

घृताहवन दीदिवः प्रतिष्म रिषतो दह।
अग्ने त्वं रक्षस्विनः ॥५॥

अन्वयः--हे घृताहवन दीदिवः अग्ने! त्वं रक्षस्विनः रिषतः प्रति दह।

सं० अन्वयार्थः--हे घृत से आहुत दीप्तियुक्त अग्निदेव ! तू राक्षस वृत्ति से युक्त हिंसक शत्रु [जो कि हमारे प्रतिकूल हैं, उन] प्रतिकूल शत्रुओं को दग्ध कर--भस्म कर-समाप्त कर।

अन्वयार्थः--(घृताहवन: दीदिवः अग्ने !) हे घृत के समान स्निग्ध श्रद्धा भक्ति और प्रेम से आहुत दीप्तिमय, ज्ञान ज्योति से युक्त प्रभुवर ! (त्वं रक्षस्विनः रिषतः प्रति दह)

टिप्पणी--१-१२-४ का यज्ञपरक--

हे अग्निदेव !जब तुम दूत कर्म को--हमारा आहुतियों की सुगन्धि को दूसरों तक पहुंचाने वाले कार्य को प्राप्त होते हो तो फिर पहले तुम (देवैः बर्हिषि आससि) अपने[अग्नि] के तेज प्रकाश आदि दिव्य गुण कर्मों के साथ बर्हिषि-यज्ञकुण्ड रूप स्थान में आविराजमान होते हो। फिर तुम (उशतः तान् देवान् विबोधय) अपने-यज्ञाग्नि देव के चाहने वाले इन देवों को बोध कराता है कि उनकी आहुतियों से उत्पन्न सुगन्ध आदि को वायु आदि देवों के द्वारा दूर--दूर तक पहुंचा दिया गया है।

तुम [हमारे इन] राक्षस भावों से युक्त इन हिंसक-जीवनो स्थान में प्रतिकूल इन काम क्रोध लोभ मोह अहङ्कार और ईर्ष्या-द्वेष आदि शत्रुओं को भस्म करो-समाप्त करो।

यज्ञ परक-(घृताहवनः दीदिवः अग्ने!)हे घृतादि हव्य पदार्थों से आहुत, यज्ञ कुण्ड में देदीप्यमान अग्निदेव ! (त्वं रक्षस्विनः रिषतः प्रति दह) तू क्रूरतायुक्त हिंसक, जीवन नाशक इन प्रतिकूल रोगों एवं रोग के कारण कीटाणुओं को नष्ट कर।

हे घृत की आहुतियाँ से आहुत दीप्तिमय-तेजोमय अग्नि-देव ! तू क्रूरतायुक्त हिंसक-जीवन नाशक रोगों एवं उनके जनक पदार्थों एवं कीटाणुओं को नष्ट कर ।

साधक को चाहिये कि वह घृतादि उत्तम हव्य द्रव्यों से इस यज्ञाग्नि का आह्वान करे, फिर इन द्रव्यों से उसको ऐसा प्रदीप्त करे कि उसमें डाले हुए हव्य वातावरण में फैलकर उन जीवन नाशक कीटाणुओं और रोगों को समाप्त कर दें। ऐसे होने से जहाँ वातावरण स्वच्छ होकर प्रदूषण समाप्त होगा वहाँ सब नीरोग एवं स्वस्थ रहेंगे ।

साधक जब घृत के समान स्निग्ध श्रद्धा भक्ति एवं प्रेम भावों से ओत-प्रोत होकर जब उसप्राण प्रिय प्रभु का आह्वान करेगा तो निःसंदेह वह प्रभु उससे आवर्जित होकर जहाँ उसके हृदय में देदीप्यमान होगा-प्रकाशमान होगा, वहाँ उसके हृदय का सब अविद्यान्धकार भी छिन्न-भिन्न होगा । उसके

भी ये कामादिशत्रुतबउस अग्नि में ऐसे भस्म हो जायेंगे कि फिर उनका पता भी नहीं लगेगा। तब तो भक्त भी, यह साधक भी अग्नि सम तेजोमय हो जायेगा।

—❁—

वह प्रभु कैसे हृदय में प्रकाशमान होता है और वह कैसा होता है।

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा।

हव्यवाड् जुह्वास्य ॥६॥

अन्वयः—अग्निना अग्निः समिध्यते, कविःग्रहपतिः युवा हव्यावाड् जुह्वास्य।

सं० अन्वयार्थः—अग्नि नें अग्नि प्रकाशमान होता है, जो कि कवि-क्रान्तदर्शी है, ब्रह्मस्वरूप गृह का स्वामी है, सदा युवा है, स्तुति रूप हव्यों को वहन करने वाला है, जुहू-वाणी ज्ञानमयी स्तुति फेंकने का साधन मुख जिसके लिये है, ऐसा वह प्रभु है।

अन्वयार्थः—(अग्निना अग्निः समिध्यते) आत्मरूप अग्नि से परमात्मरूप अग्नि प्रकाशमान होता है, अर्थात् आत्मसमर्पण से परमात्मरूप अग्नि स्वात्मा में सम्यक् प्रकाशमान होता है, जो कि (कविः) दूरदर्शी है-सर्वज्ञ है, (गृहपतिः) ब्रह्माण्ड का अधिपति परमेश्वर ही इस संसाररूप गृह का स्वामी है (युवा) वह सदा युवा-सदा सशक्त-सदा सबल रहता है, (हव्यवाड्) स्तुति रूप हव्यों को वहन करने वाला है,

(जुह्वास्य) जुहू-वाणी-वाक्-स्तुति ही फेंकना-प्रेरित करना ही साधन है जिसको अपनी ओर आवर्जित करने का, ऐसा वह प्रभु है।

साधक यदि चाहता है कि वह प्रकाशस्वरूप प्रभु उसके आत्मा में प्रकाशमान हो, तो उसे चाहिये कि वह अपने आत्मा को ऐसे उस अग्नि स्वरूप प्रभु में समर्पित करे जैसे कि यजमान अपनी समिधाओं को अग्नि में समर्पित करता है, तभी वह अग्नि उसमें प्रकाशमान होता है। सो समर्पित आत्मा जब परमात्मरूप अग्नि का ईंधन बन जाता है तो फिर वह आत्मा परमात्ममय हो जाता है। जैसे यह समिधा अग्निमय हो जाती है। वह प्यारा प्रभु कवि है, सर्वज्ञ है-सर्वान्तर्यामी है। वह भक्त के समर्पण को खूब समझता है: वह तो संसाररूप-ब्राह्मण्डरूप गृह का स्वामी है, रक्षक है। वह सदा युवा है–सदा सशक्त है-अपने सब कार्यों को करने में सशक्त है। वह हव्यवाड् है-सबके हव्यों को वहन करने वाला है। उसको अपनी ओर आवर्जित करनें का साधन है (जुह्वास्य-वाणी-वाक्-वेदवाक् वा भीतर से सन्मार्ग की ओर ले जाने वाली प्ररणा हो जिसका आस्य है-मुख है-ज्ञान प्रदान करने का स्रोत है। यज्ञपरक्- अग्निना-अग्नि समिध्यते जैसेअग्निसे अग्निप्रज्वलितकिया जाताहै वैसे ही इस आत्मा-जीव को भी इससे प्रेरित किया जाता है (कविः) कवि हैं-मूक रूप से मनुष्यों को उपदेश देता है, [कि तुम भी

१- कौति शब्दयती-उपदिशति-कविः।

मेरी तरह सबको प्रकाश दो, सबके हव्यों को वहन करो आदि-आदि] (गृहपतिः)यह यजमान के घर की रक्षा करने वाला है, यह इसका भोजन पकाकर और हवन - कुण्ड में इसकी आहुतियों से इसके घर के वातावरण की शुद्ध-पवित्र कर सबको नीरोग करता है। यह युवा है। यह सदा युवा रहकर सशक्त,कर्मठ रहकर इनके अन्धकार को हर कर इनमें प्रकाश करने वाला है, (हव्यवाड्) यह यजमान के हव्य पदार्थों को दूर-दूर तक पहुंचाकर वातावरण को यह शुद्ध करता है (जुह्वास्य) जुहू-आस्य-ज्वाला रूप मुख से यह आहुतियों को ग्रहण करने वाला है। या यह जुहू नामयज्ञ पात्र या ज्वाला रूप मुख वाला है।

—❀—

हे साधक! तू सत्यधर्मा सर्वज्ञ प्रभुदेव का स्तवन कर।

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।

देवममीवचातनम् ॥७॥

अन्वयः—[हे मनुष्य ! त्वम्] अध्वरे कविं सत्यधर्माणम् अमीवचातनं देवम् उपस्तुहि।

सं० अन्वयार्थः—हे उपासक ! तू यज्ञ में-योगयज्ञ-ब्रह्मयज्ञ में-उपासनायज्ञ में, सर्वज्ञ, सत्य नियमों के धर्ता, काम-क्रोधादि रूप शत्रुओं के विनाशक, दिव्य गुणयुक्त प्रकाश-स्वरूप प्रभुकी स्तुति कर।

अन्वयार्थः—हे उपासक ! तू (अध्वरे) हिंसा आदि-दोषों से रहित अध्यात्म यज्ञ में (कविं) वेद रूप अद्वितीय काव्य के कर्ता सर्वज्ञ (सत्यधर्माणम्) सत्यनियमों को धारण करने वाले (अमीबचातनम्) अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष आदि दोषों को समाप्त करने वाले (देवम् अग्निम् उपस्तुहि) दिव्य गुणों के भण्डार प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना कर।

आधिदैविक अर्थ में—

अर्थः—हे मनुष्य ! तू (अध्वरे-इस जीवन यज्ञ में-स्वास्थ्य यज्ञ में (कविं) गतिमान्(सत्यधर्माणम्) सत्य गुण कर्म स्वभावों वाले (अमीवचातनम्) ज्वरादि रोगों और उनके कारणों को नष्ट करने वाले (देवम् अग्निम उपस्तुहि)दिव्य गुण युक्त प्रकाशस्वरूप सूर्य वा अग्नि-इस भौतिक अग्नि का स्तवन पूर्वक सेवन कर।

अधियज्ञ में:-हे मानव ! तू इस जीवनयज्ञ में गतिमान्, सत्य नियमों वाले, रोग एवं रोग के कीटाणुओं के विनाशक दिव्य यज्ञाग्नि की हव्यद्रव्यों से पूजा कर,और उससे नीरोग-स्वस्थ सशक्त शान्त एवं प्रसन्न हो।

*

हे प्रभो ! तू अपने उपासक का रक्षक बन।

यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्द्वतं देव सपर्यति।
तस्य स्म प्राविता भव ॥८॥

अन्वयः- अग्ने देव! यः हविष्पतिः त्वां दूतं सपर्यति, तस्य [त्व] स्म प्राविता भव।

सं० अन्वयार्थः—हे अग्नि देव! जो हव्यद्रव्यों का स्वामी तुझ दूतरूप परमेश्वर की सपर्या-पूजा करता है, उसके तुम प्रकृष्ट रूप से रक्षक होओ।

अन्वयार्थः—(अग्ने देव!) हे ज्ञानस्वरूप दिव्य गुणों के भण्डार परमात्मन्! (यः हविष्पतिः) जो उपासक अपनी जाठराग्नि में होमने योग्य पदार्थों का स्वामी (त्वां दूतं सपर्यति) तुझ ज्ञान प्राप्त कराने वाले तथा अध्यात्म मार्ग में तपा-तपा कर परीक्षा करने वाले प्रभु की पूजा करता है-उपासना करता है, (तस्य [त्वं] स्म प्राविता भव) उस उपासक के तुम अवश्य सम्यक् प्रकार से रक्षक होओ।

जो उपासक 'हविष्पति' है-हव्यद्रव्यों का स्वामी है। जो सदा मिष्ट-पुष्ट-रोग विनाशक एवं सुगन्धित खाने-पीने योग्य, लेने-देने योग्य वा खाने-खिलाने और पीने-पिलाने योग्य हव्यद्रव्यों को रखता है, और उन्हीं का ही सेवन करता है-अर्थात् अपनें आहार के विषय में जो सदा सजग रहता है। और उस परम दूत परमेश्वर से जो सन्देश-प्रेरणा वेदज्ञान से वा भीतर से मिलती है,कितनी भी कठिनाईयाँ क्यों न आजाएं तो भी वह उसका गुणगान करता हुआ उस पर चलता है, तो फिर वह सर्वाग्रणी ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप दिव्य गुणों का धाम वह प्रभुवर उसकी हर तरह से रक्षा करता है। वह उसको तप की भट्टी में तपा-तपा कर कुन्दन बनाता है।

तभी तो वह एक दिन निर्मल स्वच्छ पवित्र होकर उसके अद्वितीय आनन्द का पात्र बनता है।

उस साधक का प्रभु भला क्यों न रक्षक होगा, जो पहले अपनी हवि-हव्यद्रव्य को (हु दान-अदनयोः) पहले, होमता है-देता है, फिर खाता है। ऐसे व्यक्ति को तो प्रभु की ही नहीं इस मानव की भी दुआएं और आशीर्वाद मिलते हैं। एक बालक ने एक वृद्धा को अठन्नी-दी-तो वह बोली-बेटा-भगवान् तुझे जुग-जुग जीता रखे।

अधियज्ञ परक अर्थ—(अग्ने देव !) हे देदीप्यमान दिव्य अग्नि देव ! (यः हविष्पतिः) जो होमने योग्य हविर्द्रव्य का स्वामी यजमान (त्वां दूतं सपर्यति) तुझ देवों के दूतरूप अग्नि देव को अपने हव्यद्रव्यों की आहुतियों से पूजता है, (तस्य [त्वं] प्राविता भव) उस श्रद्धालु याज्ञिक यज्ञ-मान के तुम सब प्रकार से रक्षक होओ।

सचमुच जो यजमान हव्यद्रव्यों से प्रतिदिन यज्ञरूप श्रेष्ठतम कार्य करता रहता है, तो फिर यह अग्निदेव उसके घर-परिवार के वातावरण को सदा शुद्ध-पवित्र रखता हुआ उस को सदा नीरोग, स्वस्थ, सशक्त और प्रसन्न भी बनाए रखता है।

—❀—

हे पावक परमेश्वर ! तू मुझे सुखी कर।

यो अग्नि देववीतये हविष्मां आविवासति।
तस्मै पावक मृडय ॥९॥

अन्वयः--पावक ! यः हविष्मान् देववीतये [त्वां] अग्निम् आविवासति । पावक ! तस्मै मृळय ।

सं० अन्वयार्थः---जो हवियों द्वारा उत्तमोत्तम कर्म करने वाला साधक देवों-दिव्यगुणों को प्राप्त करने वाले अध्यात्म यज्ञ में तुझ अग्निस्वरूप प्रभु को उपासता है, हे पावक परमेश्वर ! तू उसको सुखी कर।

अन्वयार्थः---(यः हविष्मान्) जो हवि वाला आहुति दे के खाए जाने वाले हव्यपदार्थों वाला अध्यात्मयाजी, (देववीतये) दिव्य गुण कर्म स्वभावों की प्राप्ति के लिये ([त्वां] अग्निम् आविवासति) तुझ प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर को पूजता है-उपासता है, (पावक ! तस्मै=तं [त्वं] मृळय) हे भीतर से पवित्र करने वाले परमेश्वर ! तू उस उपासक को [पवित्र करके] सुखी कर।

जो 'हविष्मान्' है-अपने आपको शिष्ट पुष्ट रोगविनाशक एवं सुगन्धित हवि के रूप में बनाकर प्रभु के प्रति समर्पण करने वाला है यद्वा हव्यद्रव्यों वाला बनकर, दे के खाने वाला=खिला के खाने वाला है। वह 'देववीतये' यह प्रभु की प्राप्ति के लिये या दिव्य गुण कर्म स्वभावों की जिससे प्राप्ति होती है, उस अध्यात्म के लिये प्रकाशस्वरूप प्यारे प्रभु की श्रद्धा-भक्ति और प्रेम से पूजा-उपासना करता है। उसको फिर वह परमेश्वर हर तरह से अपने सम्पर्क से शुद्ध कर-पवित्र कर सुखी करता है।

अधियज्ञ---जो हविष्मान् यजमान् दिव्य नीरोग स्वस्थ

सशक्त जीवन की प्राप्ति के लिये तुझ यज्ञाग्नि में ऋतु-ऋतु के अनुसार हव्यद्रव्यों को होमता है, हे पावन परमेश्वर ! उसको सब प्रकार से स्वच्छ-निर्मल, नीरोग, स्वस्थ कर सुखी बना। ◎

प्रभुवर ! तू हमें दिव्य गुणों को प्राप्त करा।

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह।
उप यज्ञं हविश्च नः ॥१०॥

अन्वयः—दीदिवः पावक अग्ने ! सः [त्वं] नः इह देवान् आवह, नः यज्ञं हविः च उपावह।

सं० अन्वयार्थ—हे ज्योतिर्मय, पवित्र करने वाले सबमें अग्रणी प्रभुवर ! वह तू हमें इस जगत् में देवों-विद्वानों व दिव्य गुणों को प्राप्त करा, और हमको ब्रह्मयज्ञ एवं उसमें होमने को हवि भी प्राप्त करा।

अन्वयार्थः—(दीदिवः पावक अग्ने !) हे ज्ञान ज्योति से ज्योतिर्मय, हे दिल से पवित्र होना चाहने वाले उपासकों को पवित्र करने वाले एवं ज्ञान प्रकाश के अनुपम स्रोत प्यारे परमेश्वर ! ऐसा (सः [त्वं] नः इह देवान् आवह) वह तू परमेश्वर ! तू हमें यहाँ इस जग में-उस साधना में सहयोग के लिये देवों-ज्ञानी-ध्यानियों को वा दिव्य गुणों को प्राप्त करा। तथा (नः यज्ञं हविः च [आवह]) हमें अध्यात्मयज्ञ और उसमें होमने योग्य शुद्ध पवित्र हविरूप मन को प्राप्त करा।

इसमें सन्देह नहीं कि वह ज्ञानस्वरूप प्रभु ज्योतिर्मय, दीप्तिमय है, अपने प्रति समर्पित होने वाले को केवल वह शुद्ध-पवित्र ही नहीं करता, वरन् वह उसे ज्योतिर्मय तेजोमय भी बना देता है। अर्थात् उसको बड़े-बड़े दिव्य गुण कर्म स्वभावों से भी वह अलंकृत प्रकाशमान कर देता है। पर यह सब होता तभी है जब उसको यह श्रेष्ठतम् कर्म ब्रह्मयज्ञ में बैठना आजाए, उसमें एकाग्र–एकनिष्ठ होकर जमना आजाए, और फिर उस ब्रह्मयज्ञ में उसे अपने आपको मिष्ठ पुष्ट रोग विनाशक और सुगन्धित बनाकर उस अग्नि देव में होमना-समर्पण करना आजाए। तभी तो इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि जहां वह प्रभु हमें दिव्य गुण कर्म स्वभावों की प्राप्ति कराए, वहाँ वह हमें योगयज्ञ में बैठने और अपने को हवि बनाकर समर्पित करने की शक्ति भी, भक्ति भी प्राप्त कराए।

—●—

अग्नियज्ञ में—

हे (दीदिवः पावक अग्ने !) हे दीप्तिमान पवित्र करने वाले अग्नि देव ! (सः [त्वं] नः इह देवान् आवह) वह तू हमें यहाँ देवयज्ञ स्थान में देवों–ज्ञानी–विद्वानों को प्राप्त करा [अर्थात् मेरे इस देवयज्ञ में इस यज्ञ के कारण समय-समय पर देवों–विद्वानों का आना बना रहा] इतना ही नहीं उस देव यज्ञ में (नः यज्ञं हविः च उपावह) हमें उस स्थान में जैसा यज्ञ होना चाहिये और उसमें ऋतु-ऋतु के अनुसार

जैसी हवि पड़नी चाहिये उसको भी प्राप्त करा।

इसमें सन्देह नहीं कि यह द्रव्ययज्ञ–देवयज्ञ भी वास्तव में अत्यन्त उपकारक है। पर जो मनुष्य यज्ञ तो करता है पर अपने जीवन को नहीं सुधारता, अपने आहार-व्यवहार को नहीं बदलता, तो फिर उसके यज्ञ का वह लाभ नहीं होगा जो कि उसको होना चाहिये। फिर मनुष्य के आहार-व्यवहार भी दिव्य तब बनते हैं जबकि समय-समय पर इन देवयज्ञों में देवों–ज्ञानी विद्वानों को बुलाया जाए उनके उपदेश प्रवचन आदि-आदि कराए जाएँ। यदि ऐसा होगा तो फिर उनको वास्तविक यज्ञ और वास्तविक 'हविः' का भी बोध और प्राप्ति होगा। तभी उन्हें बोध होगा कि यज्ञ का अर्थ केवल हवन कुण्ड में घी सामग्री की आहुतियाँ डालना ही नहीं है वरन् यह यज्ञ तभी वास्तविक यज्ञ बनेगा जब इसमें देवों-माता-पिता विद्वान् साधु सन्तों की संगति कर उन्हें मान दिया जायेगा, उनके उपदेशों को भी समय-समय पर सुना जायेगा, तदनुसार दीन-दुखियों–अनाथों की भी यथा शक्ति सहायता की जायेगी। एवं ऋतु-ऋतु के अनुसार हवि को तैयार कर यज्ञाग्नि में होमी जायेगी। तभी सबके शरीर मन भी नीरोग स्वस्थ सशक्त एवं प्रसन्न रहेंगे:

प्रभो! तू हमें बाहर–भीतर का ऐश्वर्य प्रदान कर।

स नः स्तवान आभर गायत्रेण नवीयसा।
रयिं वीरवतीमिषम् ॥११॥

अन्वयार्थ:—[अग्ने !] नवीयसा गायत्रेण स्तवानः [सन्] नः रयिं वीरवतीम् इषं [च] आभर।

सं० अन्वयार्थ:—हे प्रभो ! वह [तू] नए नए गान प्रकारों वाले गायत्री छन्दवाले प्रगाथों वा सूक्तों से स्तूयमान तू हमें रयि–ऐश्वर्य और शूरवीर पुत्रों से युक्त अन्न प्राप्त करा।

अन्वयार्थ:—[अग्ने ! हे परमेश्वर !] (सः [त्वं] नवीयसा गायत्रेण स्तवानः) वह तू नवीन-नवीन गानों वाले गायत्री छन्दों वाले सूक्तों से स्तुति को प्राप्त हुआ तू (नः रयिं वीरवतीम् इषं [च] आभर) हमें धन-ऐश्वर्य तथा वीर पुत्रों से युक्त अन्न आदि खाद्य पदार्थों को प्राप्त करा।

उपासकों को चाहिये कि वे उस ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का नए-नए गान प्रकारों के गायत्री छन्दों वाले सूक्तों से स्तवन करें—गुणगान करें। पर ध्यान रहे कि प्रभु के जिन गुणों का वे स्तवन करें उन गुणों के अनुसार उनका जीवन भी होना चाहिये। तभी ही उसका लाभ भी होगा। जीवन पूर्वक गुणगान से आवर्जित हुआ हुआ वह

नवीयसा=नव शब्द से आतिशय अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्ययः

स्तावनः-स्तूयमानः ! "ष्टुञ् स्तुतौ' धात्वादेः षः सः (पा० १.३.७२)।

लटः शानच ! कर्तरि शप् स्तु+शानच् आभर=आङ्+हर) हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वा: ४.३.१२०) इस 'हर को भर=आहर–आभर।

परमेश्वर उन्हें सभी प्रकार के सांसारिक सुख-सौभाग्यों अर्थात् धन-ऐश्वर्य से तथा धीर-वीर—शूर सन्तति से युक्त अन्नादि खाद्य एवं पेय पदार्थों से भी युक्त करेगा। ❋

प्रभो ! मेरे स्तोम को सेवन कर।

अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः।
इमं स्तोमं जुषस्व नः ॥१२॥

अन्वयः—अग्ने ! [त्वं] शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिः देवहूतिभिः न इमं स्तोमं जुषस्व।

सं० अन्वयार्थः—हे प्रभो ! निर्मल ज्ञान दीप्ति से तथा सब देवाह्वानों से युक्त तू हमारे इस स्तोम का सेवन कर-इस हमारे स्तोत्र विशेष का सेवन कर।

अन्वयार्थः—(अग्ने ! शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिः देवहूतिभिः) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू शुभ्र दीप्ति से सब देवों-विद्वानों के आह्वानों के साधन रूप स्तोत्रों से युक्त तू (नः स्तोमं जुषस्व) हमारी इस स्तुति विशेष को भी प्रीति से सेवन कर।

भावार्थः—जो प्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह जब साधकों उपासकों के जीवन को जहाँ पवित्र देखता है, जहाँ तेजोमय देखता है, जहाँ उनको सब ज्ञानी-विद्वानों का देवाह्वानों पर मनन चिन्तन करते हुए पुनः उनकी श्रद्धा भक्ति और प्रेम भरी स्तुतियों को देखता है, तो फिर वह भी उनकी ओर आवर्जित हुआ-हुआ=उन पर कृपालु हुआ-हुआ उनको सब प्रकार से तृप्त-परितृप्त ही करता है। ◎

देवहूतिभिः—देवानां हूतय आह्वानान्यासु स्तुतिष्विति देवहूतयः—स्तुतयः। स्तूयतेऽनेनेति स्तोमः।

गोतमः राहूगणः–प्रशस्तेन्द्रियों वाला त्यागियों में
उत्तम माना जाता है।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ७८ मन्त्र १–५ ॥

ऋषिः–गोतमो राहूगणः। देवता–अग्निः। छन्दः–गायत्री ॥ स्वरः–षड्जः ॥

हम यशोमय कर्मों के साथ तेरी स्तुति करें।

अभि त्वा गोतमा गिरा जातवेदो विचर्षणे।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥१॥

अन्वयः–जातवेदः ! विचर्षणे ! [अग्ने !] गोतमाः गिरा [यथा] त्वा अभि [स्तुवन्ति] [तथा वयमपि त्वां] द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः।

सं० अन्वयार्थः–हे जातमात्र के ज्ञाता, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ परमेश्वर ! वेदवाणियों के धनी वेदज्ञ भक्त अपनी वाणी से जैसे तुझको भजते हैं–द्युम्नों से तेरे गुणों का प्रकाश करने वाले मन्त्रों से तेरी स्तुति करते हैं, वैसे ही हम भी द्युम्नों से तेरा भजन करें।

अन्वयार्थः–(जातवेदः ! विचर्षणे ! अग्ने) हे उत्पन्नमात्र पदार्थों में विद्यमान होकर सबको जानने वाले सब संसार के परिद्रष्टा, सर्वज्ञ परमेश्वर ! (गोतमाः गिरा त्वा अभि [स्तुवन्ति]) प्रशस्त इन्द्रियों वाले ज्ञानी स्तोता स्तुतिमयी वाणी से जैसे तुझको अभिमुख रखकर तेरी स्तुति करते हैं, वैसे ही हम भी (द्युम्नैः त्वा अभिप्रणोनुमः) तेरे गुण प्रकाशक मन्त्रों से या अपने यशोमय कर्मों से तुझको लक्ष्य कर अत्यन्त नम्र होकर तेरी स्तुति करते हैं।

साधकों को चाहिये कि जैसे प्रशस्त इन्द्रियों वाले संयमी वेदज्ञ विद्वान् सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा परमेश्वर की स्तुति करते हैं

उसी तरह वे भी अपने जीवनों को दिव्य बनाते हुए अपने दिव्य यशोमय कर्मों के साथ उसकी अत्यन्त नम्र होकर श्रद्धा भक्ति से स्तुति करें। ❋

उत्तम कर्मों वाले होकर हम तेरा गुण गान करें।

तमु त्वा गोतमो गिरा रायस्कामो दुवस्यति।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥२॥

अन्वयः—रायस्कामः गोतमः गिरा [यमग्निं] गिरा दुवस्यति, तम् उ त्वां द्युम्नैः [वयम्] अभिप्रणोनुमः।

सं० अन्वयार्थः—धन-वैभव का इच्छुक विद्वान् स्तोता जिस तुझ परमेश्वर को अपनी वाणी से पूजता है, उसी तुझ परमेश्वर को अपने श्रेष्ठ यशोमय कर्मों से हम पूजते हैं।

अन्वयार्थः—(रायस्कामः) धनैश्वर्यों की कामना करने वाला संयमी विद्वान् अपनी स्तुतिमयी वाणी से जिस प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर की स्तुति उपासना करता है (तम् उ त्वा द्युम्नैः प्रणोनुमः) उस ही तुझ परमेश्वर का अपने यशोमय दिव्य गुण कर्म स्वभावों से हम गुण गान करते हैं।

---

२. रायस्कामः—रायो धनानि कामयत इति रायस्कामः (सायण)। धनकामः

द्युम्नमिति धननाम (निघं०२-१०) द्योतते यशो वा अन्नं वा निरुक्त ५५

जातवेदः—जातानां वेदितः विचर्षणे-विशेषेण सर्वस्य द्रष्टः!
द्युम्नैः-त्वदीयगुण प्रकाशकैर्मन्त्रैः

अभि-प्र-नोनुमः—सर्वत-प्रकृष्ट रूपेण अतिशयेन स्तुमः।

अभिप्रणोनुमः—आभिमुख्येन पुनः पुनः स्तुमः।

गिरा नोनुमः-णु स्तुतौ-इससे यङ्लुगन्त से लट

संसार में उत्तमेन्द्रियों से युक्त विद्वान् जैसे धन-वैभव को चाहता हुए उस प्रभु की उपासना करता है वैसे ही हमें भी 'द्युम्नैः' अपने उत्तम यशोमय कर्मों से उस प्रभु का गुणगान करना चाहिये, ताकि वह हमें भी अपने सुख-सौभाग्य से कृतार्थ करे तथा अपने आनन्द विशेष से आप्लावित करे।

—※—

तमु त्वा वाजसातममङ्गिरस्वद्धवामहे।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥३॥

अन्वयः-[अग्ने !] वाजसातमम् तम् त्वा उ अङ्गिरस्वद् हवामहे। द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः।

सं० अन्वयार्थः- हे प्रभो ! अन्न-धन के सर्वोत्तम प्रदान करने वाले उस तुझ प्रभु ही को अपने प्राण के समान हम पुकारते हैं। और फिर अपने यशों के साथ-तुम्हारा गुणगान करते हैं, तुमको स्तुति पूर्वक प्रणाम करते हैं।

अन्वयार्थः—(वाजसातमम् तं त्वाम् उ) अन्न-धन और ज्ञान-विज्ञानों के प्रदान करने वालों में अत्यन्त उत्तम उस तुझ ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का ही (अङ्गिरस्वद् हवामहे) अङ्ग-अङ्ग में रस या शक्ति का सञ्चार करने वाले प्राण के समान हम आह्वान करते हैं, और (द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः) अपने उत्तम यश की कर्मों के साथ वर्तमान हुए-हुए हम तुम को सब ओरों से एकाग्र होकर स्तुतते हैं—भजते हैं। यद्वा उत्तम भक्तिमय सङ्कीर्तनों से हम तेरी स्तुति करते हैं।

उपासक को ज्ञात है कि अन्न-बल, ज्ञान आदि के प्रदान करने वालों में सबसे अद्वितीय वह परमेश्वर ही है। उसके दान महान् हैं। वह दे के गाता नहीं, बताता नहीं, जताता नहीं। उसकी देन में जरा भी प्रदर्शन नहीं। वह दे के अनुचित लाभ भी नहीं उठाता, आदि-आदि।

उपासकों को चाहिये कि ऐसे महान् देवों के देव महादेव का वे ऐसे आह्वान करें, जैसे कि कोई प्राणों का आहवान करता है। जैसे प्राणों के बिना कोई जीवित नहीं रहता, जैसे प्राणों के अभाव में न ही इस मनुष्य में रस रहता है-न ही आकर्षण रहता है और न ही शक्ति रहती है, तभी तो हर एक इस प्राण का इतना महत्व समझता है। पर उपासक तो ऐसे हैं कि उस प्यारे प्रभु को ही अपना प्राण समझ कर उसका आहवान करते हैं। क्योंकि उनको यह ज्ञात हो गया है कि जैसे इन प्राणों से शरीर सरस और सशक्त रहता है, और सदा आकर्षण का केन्द्र बना रहता है, ऐसे ही जिस दिन उस प्यारे प्रभु का प्राणों के समान उस उपासक में प्रकाश हो जायेगा, उस दिन उसके अङ्ग-अङ्ग में एक अद्वितीय रस का-एक अनुपम आनन्द का सञ्चार हो जायेगा। तब उसके जीवन में एक नई हर्कत सी आजायेगी, उसके जीवन में उसके प्रत्येक व्यवहार में एक नया आकर्षण सा उत्पन्न हो जायेगा, जिससे सब मनुष्य बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। तभी वे उस प्रभु का प्राणवद् आहवान करते हैं और उसको

अपने प्रति आकर्षित करने के लिये अपने कर्मों को, अपने आहार-व्यवहारों को दिव्य यशोमय बनाकर उसका हृदय की टीस के साथ गुणगान करते हैं। ◉

हम द्युम्नों से तुमको भजें।

तमु त्वा वृत्रहन्तमं यो दस्यूँरवधूनुषे।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥४॥

अन्वयः—[अग्ने !] यः [त्वं] दस्यून् अवधूनुषे, तं वृत्रहन्तमं त्वा उ द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः।

सं० अन्वयार्थः—[हे प्रभो !] जो तू दुष्टों को दण्ड देकर कम्पाता है, उस दुष्टहन्ता तुझ परमेश्वर को ही हम चमचमाते शास्त्रों से युक्त हो स्तुजते हैं।

अन्वयार्थः—हे प्रभो ! (यः [त्वं] दस्यून् अवधूनुषे) जो तू प्रजा सज्जनों को हानि पहुँचाने वाले दस्युओं-राक्षसों महादुष्ट-डाकू-लुटेरों को कम्पाता है-भयभीत करता है, और अन्त में उन्हें नष्ट करता है, (तं वृत्रहन्तमं त्वा उ) उस पापी दस्यु-राक्षस-दुष्टों का हनन करने वाले तुझ परमेश्वर का ही हम (द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः) तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर स्तवन करें-गुणगान करें। अर्थात् हम भी उस प्रभु के समान समाज को हानि पहुँचाने वाले तत्वों का विनाश करते हुए उसकी स्तुति करें।

अवधूनुष-आतकम्पयसि-स्थानात् प्रच्यावयसि। दस्यून्-अनार्यान्-अतिदुष्टान्

अध्यात्म में—हे प्रभो ! (यः [त्वं] दस्यून्, अवधूनुषे) जो तू हमें क्षीण करने वाली वृत्तियों को नष्ट करता है (तं वृत्रहन्तमं त्वा उ) उसे ज्ञान का आवरण करने वाली काम-क्रोधादि रूप वृत्तियों के हन्ता तुझ प्रभु का (द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः) आनन्दमयी-प्रसन्नता भरी वृत्तियों से हम गुणगान करते हैं। ✻

हम त्यागी तपस्वी होकर मधुमय वचन बोलें।

अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद्वचः।
द्युम्नैरभि प्रणोनुमः ॥५॥

अन्वयः—रहूगणाः [वयं] अग्नये मधुमद्वचः अवोचाम, द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः।

सं० अन्वयार्थः—अधर्म का त्याग करने वाले वा तप-त्याग की वृत्ति वाले हम प्रकाशस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिये मधुमय वचन बोला करें, और पावक द्युतिमय यशोमय कर्मों से युक्त होकर उसका गुणगान करें।

अन्वयार्थः—(रहुगणाः) स्वार्थ को छोड़ कर सदा तप-त्याग की वृत्ति वाले हम उपासक-जन (अग्नये) ज्ञानस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिये सदा (मधुमद्वच अवोचाम) मधुमय-अत्यन्त प्रीतीकर स्तुतिमय वचन बोला करें। (द्युम्नैः अभिप्रणोनुमः) और यशोमय दिव्य व्यवहारों से युक्त होकर सब ओर से एकाग्र होकर श्रद्धा भक्ति से हम तेरी स्तुति करें।

प्रभु प्राप्ति के अभिलाषी साधकों को चाहिये कि वे अधर्म के मार्ग का सर्वथा त्याग करें। और सदा तप-त्याग का जीवन व्यतीत करें। वे सबसे मधुमयी वाणी से व्यवहार करें। प्रभु की उपासना भी अत्यन्त श्रद्धा भक्तिमय मन्त्रों, स्तोत्रों से करें। जहाँ उनके वचनों में, उनके स्तोत्रों में माधुर्य हो, वहाँ उनका जीवन भी ऐसा पवित्र, मधुर और उत्तम हो कि उससे भी जहाँ संसार को सुख शान्ति मिले वहाँ प्रभु से भी उसको साधुवाद मिले-भीतर से शाबाश मिले।

उपासक में वचनों के माधुर्य के साथ-साथ उनके जीवन के प्रत्येक व्यवहार में भी पवित्रता और माधुर्य हो।

—※—

ऋग्वेद मं० १ सूक्त ८९ मन्त्र ॥१—१०॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः

हमें सब ओर से यज्ञरूप उत्तम कर्म और भद्र विचार प्राप्त हो।

ऋषिः—गोतमो राहुगणः। देवता–विश्वेदेवाः। छन्दः–१,५, निचृद्गायत्री। २,३,७ जगती। ४ भुरिक्त्रिष्टुप्। ६ स्वराड्बृहती॥ ८ विराट् त्रिष्टुप्। ९ १०, त्रिष्टुप्। स्वरः १–३,५,७ निषादः। ४,८–१० धैवतः। ६ मध्यमः।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो
अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो
दिवे दिवे ॥१॥

अन्वयः—भद्राः अदब्धासः अपरीतासः उद्भिदः क्रतवः नः विश्वतः [तथा] आयन्तु, यथा अप्रायुवः दिवे दिवे रक्षितारः देवाः सदम् इत नः वृधे असन् ।

सं० अन्वयार्थः—भद्र, अदब्ध-अहिंसित, अप्रतिरुद्ध-अवर्जनीय, विघ्न बाधाओं के-दुःखविदारक-दुःखों के उद्भेदक क्रतु-यज्ञमय उत्तम हमें सब ओर वैसे प्राप्त हों, जैसे कि अप्रणष्ट आयु-जीवन वाले वा अप्रमादी होकर प्रतिदिन हमारी रक्षा करने वाले ये देवजन सदा ही हमारे सुख के बढ़ाने के लिये लगे रहते हैं ।

अन्वयार्थः—(भद्राः) सुखकारी एवं कल्याणकारी, (अदब्धासः) आसुरी वृत्ति वाले लोगों के विघ्न डालने पर भी न दबने वाले (अपरीतासः) चहुँ ओर से न घेरे जा सकने वाले अर्थात् सब प्रकार से बढ़ने वाले-विकसित होने वाले, (उद्भिदः) विघ्न-बाधाओं को छिन्न-भिन्न करने वाले विचार और कर्म तथा यज्ञमय, उत्तम कर्म (नः विश्वतः [तथा] आयन्तु) हमें सब ओर से वैसे ही प्राप्त हों (यथा अप्रायवः) जैसे अपनी आयु-जीवन को व्यर्थ न खोने वाले अपने कर्त्तव्य से कभी न हटने वाले वा आलस-प्रमाद न करने

वाले, (दिवे दिवे रक्षितारः देवाः)-प्रति दिन हमारी रक्षा करने वाले देव जन (सदम् इत् नः वृधे असन्) सदा ही हमारी अभिवृद्धि के लिये लगे रहते हैं। हमें सब ओर से भले कर्म एवं भले विचार प्राप्त हों। ※

हम देवों की सख्यता-मित्रता प्राप्त करें।

देवानां भद्रा सुमतिॠजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥१॥

अन्वयः—ॠजूयताम् देवानां भद्रा सुमतिः, देवानां रातिः नः अभिनिवर्तताम्। देवानां सख्यं वयम् उपसेदिम, देवाः जीवसे नः आयुः प्रतिरन्तु।

सं० अन्वयार्थ=ॠजु-[सरल निश्छल] भाव को चाहने वाले देवों की भद्र सुमति, देवों की दान वृत्ति हमारे सम्मुख नित्य रहे, देवों की मित्रता को हम प्राप्त हों, देव दीर्घ जीवन के लिये हमारी आयु को बढ़ायें।

अन्वयार्थः—(ॠजूयतां देवानां भद्रा सुमतिः नः अभि-नि-वर्तताम्) दिल से ॠजु-कोमल-सरल-निश्छल होना चाहते हुए देवों की सुखदायिनी और कल्याणकारिणी सुमति हमारे अभिमुख नित्य वर्तमान रहे, (देवानां रातिः नः अभि-नि-वर्तताम्) देवों की दानवृत्ति हमारे सम्मुख सदा विद्यमान रहे, (देवानां सख्यं वयं उपसेदिम) देवों की सख्यता [समान

ख्यानता]-को हम प्राप्त करें वा उनके सामीप्य से हम प्राप्त करें। (देवा: जीवसे नः आयुः प्रतिरन्तु) देव दीर्घायु तक जीने के लिये हमारी आयु को बढ़वें।

इस मन्त्र में क्या सुन्दर प्रार्थना है! आत्मना जो मनुष्य ऋजू कोमल-सरल निश्छल-पवित्र(innocent)होना भीतर-बाहर से जो एक होना चाहते हैं, उन दिव्य गुणों के धनी महापुरुषों की सुमतिः ही नहीं वरन् भद्रा सुमतिः-लोक को सुखमय और परलोक को कल्याणमय बनाने वाली सुमतिः-उत्तम मति हमारे सम्मुख सदा वर्तमान रहे। इतना ही नहीं देवों में जो दयाभाव है और उस दया के परिणामस्वरूप जो रातिभाव-दानभाव है, वह भी अपने आप में इतना अद्वितीय है कि प्रार्थना करने वाले प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उनका वह दान भाव भी हमारे अभिमुख नित्य वर्तमान रहे। जहाँ सख्यभाव का प्रसंग है वहाँ यदि हम देवों से दिल से प्रभावित हों तो हम यह प्रतीक्षा न करें कि वे कभी आयें तो तभी हम उनसे अपना सखित्वं स्थापित करेंगे, वरन् वे यह सोचें कि ऐसे दिव्य गुणों के धाम महापुरुषों को सख्यता को प्राप्त करने के लिये हम स्वयं उनके समीप जाकर उनसे अपना सखित्व स्थापित करेंगे। 'सख्य' शब्द का अर्थ मित्रता किया जाता है पर वास्तव में सख्यभाव का अर्थ है समान ख्यानता-समान ज्ञानता। महापुरुषों की मित्रता केवल स्नेह के कारण नहीं होती वह तो एक समान ज्ञान और एक समान रुचियों को लेकर होती है। सो हम स्वयं उनके समीप जाकर उनके

समान ज्ञानशील-स्वाध्यायशील मनन-चिन्तनशील बनकर उनका सखित्व प्राप्त करेंगे। प्रभु करें अपने दिव्य गुण कर्म स्वभावों एवं दिव्य उपदेशों से वे हमारी आयु को बढ़ाएं कि जिससे हम अपने जीवन को सार्थक कर सकें।

—※—

सुभगा सरस्वती हमें सुखी करे।

सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्।

तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती न सुभगा मयस्करत् ॥३॥

अन्वयः—भगं, मित्रम्, अदितिं, दक्षम्, अस्रिधम्, अर्यमणं, वरुणं, सोमम्, अश्विना–अश्विनौ [इति] तान् [सर्वान् देवान्] पूर्वया निविदा वयं हूमहे, [तेषां सम्पर्केण] सुभगा सरस्वती नः मयः करत्।

सं० अन्वय:—भग, मित्र, अदिति, दक्ष, अस्रिध, अर्यमा, वरुण, सोम और अश्विनौ, [ये जो देव हैं] उन सब देवों का प्राचीन [सनातन] वेदवाणी से हम आह्वान करते हैं, उनके संग से सुभगा सरस्वती हमारा कल्याण करे।

अन्वयार्थः—(भगम्) भजनीय-सेवनीय, (मित्रम्) सबके सुहृद्–मित्र (अदितिम्) कभी न नष्ट होने वाले (दक्षम्) सब जगत् के निर्माण में समर्थ (अस्रिधम्) अहिंसक या शोषण

रहित (अर्यमणम्) श्रेष्ठों का मान और अश्रेष्ठों का तिरस्कार करने वाला न्यायकारी (वरुणम्) पापों से हटाने वाला (सोम) सर्वोत्पादक परमेश्वर वा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर अथवा मित्र-सूर्य, बलवान् वा कार्यों में दक्ष कुशल ज्ञानी विद्वान् अविध-किसी को व्यथित-पीडित न करने वाला, दुष्टों को नियन्त्रण में रखने वाला न्यायकारी राजा, वरणीय परमेश्वर वा अध्यापक, सर्वप्रेरक, सौम्यगुणों से युक्त परमेश्वर वा सोम्य स्वभावों से युक्त उपदेशक और अश्विनौ-सूर्य-चन्द्रमा वा माता-पिता इत्यादि (तान् पूर्वया निविदा हूमहे) उन देवों का प्राचीन सर्वोत्तम वेदवाणी के द्वारा हम आह्वान करते हैं। इनके संग से-सम्पर्क से (सुभगा सरस्वती नः मयस्करत्) सुख-सौभाग्यों को प्रदान करने वाली सरस्वती-ज्ञान गङ्गा हमें स्नान कराकर-शुद्ध-पवित्र कर हमें सुखी करे-हमारा कल्याण करे।

साधकों को चाहिये कि उपर्युक्त गुणों वाले सभी देवताओं को—चाहे वे जड़ हों [सूर्य, चन्द्र आप आदि हों] वा चेतन चाहे वे परमेश्वर के रूप में हों वा माता-पिता आचार्य, विद्वान्, संन्यासी, अध्यापक-उपदेशक, देव अतिथि, न्यायाधीश नेता वा राजा आदि क्यों न हों, उन सबका वे यथा प्रसङ्ग आह्वान करें, उनका प्राचीन वेदवाणी के अनुसार स्वागत-सत्कार करें। फिर उनके संग से-सम्पर्क से जो सुभगा सरस्वती सुन्दर ऐश्वर्यों, धर्मों-कर्तव्यों, यशों, श्रियों, ज्ञान-ध्यानों

एवं वैराग्य आदि की भावनाओं को प्राप्त कराने वाली जो सरस्वती-ज्ञान गङ्गा-ज्ञान का अनुभव प्रवाह प्रवाहित हो वह (नः मयस्करत्) हमारा कल्याण करे। सचमुच दिल से हमारी चाह होगी और हृदय से हमारा पुरुषार्थ भी होगा, तो हम अवश्य सुख-सौभाग्यों को ही नहीं वरन् महासौभाग्य-परम सौभाग्य रूप परमेश्वर के अद्वितीय प्यार-आनन्द को भी प्राप्त करेंगे। आवश्यकता है उस हृदय और पुरुषार्थ की जिससे यह सब कुछ होता है।

—◎—
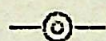
वायु, पृथिवी, द्यौ, औषधियों के सदुपयोग से मनुष्य नीरोग-स्वस्थ होता है।

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥४॥

अन्वयः-वातः नः तत् भेषजं वातु, [यत्] मयोभु, पृथिवी माता [नः] तत् [भेषजं वातु, यत् मयोभु स्यात्] पिता द्यौः [नः] तत् [भेषजं वातु, यत् मयोभु], सोमसुतः मयोभुवः ग्रावाणः [नः] तत् [भेषजं प्रापयन्तु, यत् मयोभु स्यात्]। [धिष्ण्या धिष्णा बुद्धि स्तदर्हौ अर्थात्] धिष्ण्यौ अश्विनौ युवं तत् [भेषजं] शृणुतम् [नः यत् मयोभु]।

सं० अन्वयार्थः-वायु हमें वह औषध प्राप्त कराए जो सुखकर हो, पृथिवी माता हमें वह औषध प्राप्त कराए-उपलब्ध कराए जो सुखकर हो; पिता द्यौः हमें वह औषध प्राप्त कराए जो सुखकर-हितकर हो; सोम का अभिषण करने वाले, सुखकारी विद्वान् पुरुष हमें वह औषध प्राप्त करायें, जो सुखकर हो। हे बुद्धि वाले स्त्री-पुरुषो ! वा माता-पिताओ ! वा अत्यन्त उत्तम प्रज्ञा वाले दम्पतियो ! तुम दोनों उस रोग दूर करने वाली औषध और उपाय को सुनो, जो तुम्हारे लिये सुखकर हो-हितकर हो।

अन्वयार्थः—(वातः नः तत् भेषजं वातु) वायु देवता हम को उस रोग दूर करने वाली ओषध-दवा प्राप्त कराए-उपलब्ध कराए ([यत् मयोभु) जो हमें नीरोग और स्वस्थ कर सुखी करे। (पृथिवी माता [नः] तत् भेषजं वातु यत् मयोभु) नाना प्रकार की ओषधियों को उत्पन्न करने वाली यह विस्तृत भूमि माता हमें उस औषध को प्राप्त कराए जो हमारे लिये सुखकारी--हितकारी हो। (पिता द्यौः तत् [भेषजं वातु यत् मयोभु]) पिता द्यौ-तेजोमय प्रकाशमय यह स्वास्थ्य रक्षक सूर्य अपने तेज-प्रकाश आदि के माध्यम से हमें वह औषध [रंगीन शीशियों का तेजोमय पानी आदि] प्राप्त कराए जो हमें नीरोग और स्वस्थ करके सुखी करे। (सोमसुतः मयोभुवः ग्रावाणः [नः] तत् भेषजं प्रापयन्तु यत् मयोभु) सोम लता आदि औषधियों को उत्पन्न करने

वाले, सुखकारी मेघ हमें उस औषध को प्राप्त करायें जो हमारे लिये सुखकर--हितकर हो, अथवा सुखकर सोमादि औषधियों को कूटने-पीसने वाले सिल बट्टा खरल आदि पत्थर के उपकरण हमें उस उत्तम औषध को प्राप्त करायें जो हमारे लिये सुखकर हो, अथवा शरीर के रोगों को शान्त करने वाली सोम लता आदि औषधियों का अभिषव करने वाले सुखकर विद्वान्-कुशल वैद्य जन हमें उस औषध को उपलब्ध करायें जो हमारे लिये सुखकर-हितकर हो।

(धिष्ण्यो अश्विनौ !) हे बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषो वा बुद्धिमान् घर परिवार में अपने स्नेह सहयोग से अभिव्याप्त प्यार वाले माता-पिताओं। (युवं तत् [भेषजं] शृणुतम् [वः यत्‌मयोभु]) तुम दोनों उस चिकित्सा उपाय एवं उस औषध और औषध की विधि उस को ध्यान से सुनो और उसके समुचित प्रयोग से नीरोग बनकर सुख शान्तिमय स्वस्थ जीवन व्यतीत करो।

हम प्रातः भ्रमणार्थ जाएँ तो यह वायु-हवा हमें उस अपने प्रवाह से औषधि की उपलब्धि कराए जो हमारे शरीर को जहाँ नीरोग करे वहाँ स्वस्थ, सशक्त भी करे ताकि हम सचमुच सुखी हों। यह विशाल भूमि माता हमें उन औषधियों को उपलब्ध करायें जो हमें नीरोग करें-स्वस्थ करें। यह पिता रूप द्यौ हमें सूर्य चन्द्र आदि के माध्यम वह औषध प्राप्त कराए जिससे हम नीरोग सशक्त होकर सुखी

हों। जैसे चन्द्रमा की चान्दनी में रखी हुई खीर आदि विशेष लाभकर होती है, विभिन्न रंग की शीशियों में जल भर कर धूप में रख कर उनसे नाना प्रकार के रोगों को दूर कर मनुष्य को नीरोग स्वस्थ बनाया जाता है। सर्व सुखकारी कुशल वैद्य नाना प्रकार की सोमलता आदि औषधियों को कूट-पीसकर और छानकर वा उनका सार-रस सत आदि निकाल कर उसको जल दुग्ध मधु आदि के साथ खिला-पिलाकर रोगियों को नीरोग, स्वस्थ बनाकर सुखी करते हैं। वैद्य कुशल हो-विद्वान् हो-समझदार-बुद्धिमान् हो, पर अगर गृहस्थ दम्पती=स्त्री-पुरुष यदि उस औषधि के समुचित प्रयोग और उसके साथ परहेज को ध्यान से नहीं सुनेंगे और तदनुसार सेवन नहीं करेंगे, तो लाभ नहीं होगा तभी तो ऐसा उपदेश इस मन्त्र में दिया गया है। ॐ

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे
हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः
स्वस्तये ॥५॥

अन्वयः—तम् ईशानं जगतः तस्थुषः पतिं धियंजिन्वम् अवसे वय हूमहे, यथा [सः] पूषा नः वेदसां वृधे असत्, स्वस्तये अदब्धः रक्षिता पायुः [असत्]।

सं अन्वयः—उस सब संसार के शासक, चराचर जगत्

के स्वामी, बुद्धि को तृप्त करने वाले परमेश्वर को अपनी रक्षा के लिये हम पुकारते हैं-बुलाते हैं, जिससे कि वह सर्व पोषक प्रभु हमारे धनों की वृद्धि के लिये हो, और हमारे स्वस्ति-कल्याण के लिये किसी से न दबने वाला वह शत्रुओं से हमारा रक्षक एवं शारीरिक रोगों से हमें बचाने वाला हो।

अन्वयार्थः—(तम् ईशानम्) उस सर्वैश्वर्यों के स्वामी (जगतः तस्थुषः पतिम्) चेतनाचेतन संसार के रक्षक (धियंजिन्वम्) बुद्धि को शुद्ध पवित्र कर मनुष्य का प्रसन्न, तृप्त करने वाले परमेश्वर का (अवसे वयं हूमहे) हम अपने संरक्षण के लिये आह्वान करते हैं (यथा पूषा नः वृधे असत्) जिससे कि वह सबको परिपुष्ट करने वाला प्रभु हमारी बढ़ोत्री के लिये वर्तमान हो, और (स्वस्तये अदब्धः रक्षिता पायुः असत्) हमारे स्वस्ति अर्थात् अविनाश के लिये किसी से न दबने वाला प्रभु आन्तरिक जगत् का मानसिक रोगों से रक्षक एवं शारीरिक जगत् का शारीरिक रोगों से रक्षक होवें।

सब उपासकों को चाहिये कि जो सब जगत् का स्वामी है, सब की रक्षा करने वाला अधिपति है। बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित कर शुद्ध पवित्र एवं तृप्त करने वाला है। वही सब जीवों को पुष्ट करता हुआ सबको भीतर बाहर के शत्रुओं से बचाकर सबकी रक्षा करता है। उसी की उपासना करना सबको योग्य है। उसी के

कृपा कटाक्ष के मनुष्य को सब प्रकार की सफलता मिलती है। इस मन्त्र में पूषा रक्षिता और वायु से तात्पर्य वह सबको पोषण देकर पुष्ट करने वाला, उनके भोगों की रक्षा करने वाला, और भोग प्रदान कर पायुः अर्थात् उनकी आयु की रक्षा करता है। ※

ईश्वर हमारा कल्याण करे-प्रभु हमें सुस्थिति में रखे।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पति-र्दधातु ॥६॥

अन्वयः—वृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति [दधातु]। विश्ववेदाः पूषा नः स्वस्ति [दधातु]। अरिष्टनेमिः तार्क्ष्यः नः स्वस्ति [दधातु]। बृहस्पतिः न स्वस्ति दधातु।

सं० अन्वयार्थः—विस्तृत ज्ञान वाला वा बढ़े हुए यश वा अन्नवाला परमैश्वर्यवान् परमेश्वर हमारा कल्याण करे। सर्वविध धन-वैभवों वाला, सर्वपोषक प्रभु हमारा कल्याण करे। अरिष्ट-दुःखों का वज्र के समान छेदन करने वाला, एवं तीव्र गति वाला, प्रभु हमारा कल्याण करे। वेद ज्ञान का अधिपति प्रभु हमारा कल्याण करे।

अन्वयार्थः—(वृद्धश्रवाः इन्द्रः नः स्वस्ति [दधातु]) सब प्रकार के ज्ञान, अन्न और यश से बढ़ा हुआ, सब प्रकार के ऐश्वर्यों का स्वामी एवं आसुरी वृत्ति को संहार करने वाला परमेश्वर, हमारा कल्याण करे। (विश्ववेदाः पूषा नः

स्वस्ति [दधातु]) सर्वविघ्न विनाशकारी सर्वज्ञ सर्वपोषक सबको पुष्ट करने वाला प्रभु हमारा कल्याण करे।

(अरिष्टनेमिः तार्क्ष्यः नः स्वस्ति दधातु) अप्रतिहत गति वाला वा न टूटने वाले वज्र वाला-कभी न विफल होने वाला-दुःखों का वज्रवत छेत्ता एवं तीव्र वेग वाला या तारने वाला परमेश्वर हमारा कल्याण करे। (बृहस्पति नः स्वस्ति दधातु) वेदज्ञान का अधिपति प्रभु हमारा कल्याण करे।

अन्न धन यश से बढ़े हुए जगत् सम्राट् प्रभु का जो आश्रय लेते हैं वह निःसन्देह उन्हें स्वस्ति-सु स्थिति में रखता है; सर्वज्ञ, सर्ववैभवों वाले, सर्वपोषक प्रभु का जो आश्रय लेते हैं वह उनको बोधपूर्वक सुस्थिति में रखता है। जिसका वार कभी खाली नहीं जाता, ऐसा प्रभु जिसका सहारा बन जाए, वह फिर सु-स्थिति में रहता है। वेदज्ञान के अधिपति प्रभु के प्रति जो समर्पित हो जाता है उसको प्रभु सदा सुस्थिति में-उत्तम स्थिति में रखता है।

—o—
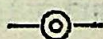
हमें मननशील मनुष्यरूप देव प्राप्त हों।

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसागमन्निह ॥ऋ०७॥

अन्वयः—पृषदश्वा पृश्निमातरः शुभंयावानः विदथेषु

जग्मयः अग्निजिह्वाः सूरचक्षसः मनवः मरुतः विश्वेदेवाः अवसा नः इह आगमन् ।

सं० अन्वयार्थ—श्वेतविन्दुयुक्त अश्वों वाले, द्यौ रूप माता वाले, शुभ की ओर ले चलने वाले, यज्ञों में जाने वाले, अग्नि के समान जिह्वा वाले, अर्थात् सब विद्याओं को प्रकाशित करने वाले, सूर्य के समान प्रकाश करने वाले, मनन शील मनुष्य रूप सब देव रक्षा आदि के साथ हमें यहां प्राप्त हों।

अन्वयार्थः—(पृषदश्वाः)श्वेतविन्दुओं वाले उत्तम अश्वः घोड़े हैं जिनके ऐसे, (पृश्निमातरः) नाना वर्णों वाली गौ है माता जिनकी ऐसे, या नानावर्णा प्रकृति है माता जिनकी ऐसे, या द्यौ रूप माता वाले (शुभंयावानः) सदा शुभ मार्ग की ओर चलने-चलाने वाले (विदथेषु जग्मयः) सदा यज्ञों के मार्ग में चलने-चलाने वाले (अग्निजिह्वाः) अग्नि के समान पदार्थों को प्रकाशित करने वाली जिह्वा वाले (सूरचक्षसः) सूर्य के समान सब पदार्थों को प्रकाशित करने-स्पष्ट दर्शाने वाले-समझाने वाले(मनवः [1] मरुतः विश्वे देवाः) मननशील विचारशील जो मनुष्यरूप सब देव हैं—विद्वान् हैं, वे (अवसा नः आगमन्) अपने रक्षणआदि साधनों से हमें प्राप्त होवें।

—◎—

टिप्पणी १:—मरुतः-मनुष्याः (दयानन्द-यजु० १५.२०)
विदथेषु, जग्मयः- यज्ञेषु गगनशीलाः।
सूरचक्षसः-सूर्यप्रकाश इव चक्षः प्रकाशो यंषां ते।

देवो! हम भद्र सुनें, यजत्रो ! हम भद्र देखें ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥८॥

अन्वयः—देवाः ! [भवत्सङ्गेन यद्] भद्रं [तद् वयं] कर्णेभिः शृणुयाम। यजत्राः! [भवत्सङ्गेन यद्] भद्रं [तद् वयं] अक्षभिः पश्येमः। स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः [सन्तः] तनूभिः यद् देवहितमायुः [तद् वयं] व्यशेम।

सं० अन्वयार्थः—हे देवो ! जो भद्र हैं, उसको हम इन कानों से सुनें। हे यजत्रो, जो यह भद्र है उसको हम इन आंखों से देखें। स्थिर अङ्गों से स्तुति करते हुए अपने शरीरों से जो देवों-विद्वानों के लिये सुखकारी आयु है उसको हम प्राप्त हों वा हम पूर्णायु को प्राप्त करें।

अन्वयार्थः—(देवाः ! कर्णेभिः भद्रं शृणुयाम) हे ज्ञान के धनी विद्वानो ! श्रोत्रों से हम भद्र श्रवण करें-इन कानों से हम अभ्युदय-निःश्रेयस को प्रदान करने वाले वचनों को सुने (यजत्राः। अक्षभिः भद्रं पश्येम) हे यजत्रो ! हे यज्ञों के द्वारा त्राण करने वाले कर्मयोगियो! हम इन आंखों से लोक-परलोक को सुखमय एवं आनन्दमय बनाने वाले दृश्यों को देखें। (स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसाः) स्वस्थ सबल सुडोल वा स्थिर स्वस्थ सबल अङ्ग-प्रत्यङ्गों से प्रभु का स्तवन-भजन-पूजन करते हुए (तनूभिः) अपने स्थूल सूक्ष्मादि शरीरों से (यत

देवहितम् आयुः) जो देवों के लिये भी हितकर-सुखकर आयु-जीवन है, ([तत्] व्यशेम) वह हम प्राप्त करें। अथवा देवों द्वारा जो मनुष्यों की १०० की आयु निश्चित की गई है, उसको हम भोगें, अर्थात् हम शतायु हों।

मनुष्यों को चाहिये कि वे सदा देवों का संग करते हुए उनसे ऐसी भद्र-कल्याणकारिणी वेदवाणी सुनें जो कि उनको जहाँ लोक में सुखकारी हो वहां वह परलोक में भी आनन्द कर हो। वे अपने जीवन से यजत्रों-यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के द्वारा लोगों को बुराईयों से हटा-हटा कर अच्छाईयों में लगाने वाले महापुरुषों का संग करें–उनके दिव्य उत्तम यज्ञमय–उपकारमय लोक को सुखमय और परलोक को आनन्दमय बनाने वाले कर्मों को देखें, कार्यक्रमों को देखें। वे अपने स्वस्थ–स्थिर–निश्चल अङ्गों एवं स्थूल सूक्ष्म आदि शरीरों से उन्हीं देवों एवं यजत्रों की तरह उस प्राणप्रिय प्रकाशस्वरूप प्रभु का ध्यान भजन करें। और ऐसा सुन्दर प्रिय आदर्श साधकों वाला जीवन व्यतीत करें जो चिरायु भी हो और देवों के लिये भी हितकर सुखकर एवं आदर्श हो। वे भी उसे देखकर फूले न समाएँ।

—※—

हम चिरायु हों–शतायु हों।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषता युर्गन्तोः ॥६॥

अन्वयः—देवा ! शतं शरदः इत् नु अन्ति, यत्र नः तनूनां जरसं चक्र। यत्र पुत्रासः पितरः भवन्ति। [देवाः]। तत्र गन्तोः मध्याःन : आयुः मा रीरिषत।

सं० अन्वयः—हे देवो ! सौ शरद ऋतुएं वा सौ वर्ष ही मनुष्यों के पास आयु है जहाँ [तुम] हमारे शरीरों को बूढ़ा कर देते हो और जहाँ कि [हमारे पुत्र [भी] पितर [हमारे रक्षक-पालक वा पुत्र-पौत्रों वाले पितर] हो जाते हैं। हे देवो! उस अवस्था में पहुंचने तक की आयु पर पहुँचने के मध्य में ही हमारी आयु-जीवन को मत समाप्त करे।

अन्वयार्थः—(देवाः। शतं शरद इत् नु अन्ति) हे ज्ञानी विद्वानों ! और जीवन प्रदान करने वाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु सूर्य, चन्द्र, अन्न आदि पदार्थों ! सौ शरद ऋतुओं की अर्थात् सौ वर्ष की आयु मनुष्यों के पास है। (यत्र नः तनूनां जरसं चक्रे) जिसमें तुम हमारे शरीरों को जीर्ण-बूढ़ा कर देते हो। और (यत्र पुत्रासः पितरो भवन्ति) जिसमें कि हमारे पुत्रः पितर हो जाते हैं अर्थात् हमारे पुत्र भी तब तक हमारे रक्षक=पालक पोषक बन जाते हैं वा हमारे पुत्र भी पुत्र-पौत्रों वाले होकर पितर=पिता-पितामह बन जाते हैं। ([तत्र] गन्तोः) उस अवस्था तक पहुँचने तक के (मध्याः नः आयुः मा रीरिषत) बीच में हमारी आयु-

जीवन को मत हिंसित करो-मत समाप्त करो।

मनुष्यों को चाहिये कि वे ज्ञानी विद्वानों के समीप रहने उनका उपदेश-सदुपदेश सुनें और तदनुसार सभी उपयोगी खाद्य एवं पेय आदि पदार्थों का यथोचित प्रयोग कर ताकि वे मनुष्योचित स्वाभाविक १०० वर्षों तक जीवन व्यतीत कर सकें। यों तो स्वाभाविक रूप से बुढापा भी आयेगा, शारीरिक शक्तियाँ भी क्षीण होंगी, केश भी कृष्णवर्ण को छोड़ कर धवल होंगे, कार्य करने की स्थिति भी पूर्ववत् नहीं रहेगी, जिन पुत्र-पुत्रियों का किसी समय में पालन-पोषण किया था वे अब पुत्र से पितर बनकर इन का पालन-पोषण भी करेंगे और पुत्र से पुत्र-पौत्रों आदि के उत्पन्न होने पर पिता और दादा आदि भी बनेंगे। पर फिर भी मनुष्य चाहते हैं कि इस शत वर्षीय जीवन तक पहुँचने के मध्य में हमारा जीवन समाप्त न हो, अर्थात् हम न्यून से न्यून सौ वर्षों तक तो जीयें ही। ऐसा हम अपना जीवन क्रम बनाएँ। इससे भी अधिक जाने का सौभाग्य मिले तो उस में भी पराधीनताः न हो, स्वाधीनता ही हो।

यह द्यौ आदि सब अदिति हैं।

अदिति द्यौं रदितिरन्तरिक्षमदितिरन्तदिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिजांतमदितिर्जंनित्वम् ॥१०॥

अन्वयः--द्यौः,अदितिः अन्तरिक्षम्,अदितिः माता, अदिति, सः पिता, सः पुत्रः,विश्वे देवाः अदितिः, पञ्चजनाः अदितिः जातं अदितिः, जनित्वम् अदितिः ।

सं०अन्वयार्थं=यह द्यौः अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है, माता अदिति है, वह पिता, वह पुःत्र अदिति है. विश्वे देव अदिति है, पञ्चजन अदिति है, उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने वाला यह सब अदिति हैं ।

अदितिरदीना देवमाता-देवमाताऽदिति इस पक्ष में अदितिः-खण्डरहित जो द्यु-अन्तरिक्ष आदि देवो की जो माता-निर्मात्री है वह अदिति है ।

अन्वयार्थं- शक्ति रूप में जो परमात्मदेवता रूप माता है उसी की ये द्यु-अन्तरिक्षादि विभूतियाँ है। उसी ने इनका निर्माण किया, उसी ने इन को धारण किया और उत्पन्न किया, इन को प्रकाशित किया और धारण किया । उत्पाद्य और उत्पादक में अभेद दिखलाने के लिये ऐसा कहा गया है। जैसे कि आयुर्वैघृतम् वा 'अन्नमु वा आयुः' (शत०९-२-३-१६)घीवा अन्न आयु-दीर्घायु का साक्षात् कारण होने से घी और 'अन्न' को आयु कह दिया जाता है। ऐसे ही द्यौः, अन्तरिक्ष का कारण होने से द्यौ' आदि को अदितिः' कह दिया गया है ।

अन्वयार्थ—(द्यौः अदितिः) द्यु लोक में जो प्रकाश है वह 'अदिति है [खण्डरहित इस पृथिवी आदि देवों की जो निर्मात्री शक्ति है उसी का ही नाम अदिति है ।[1] (अन्तरिक्षम् अदितिः) अन्तरिक्ष में जो अवकाश है, वह उस अदिति का ही है, वह इस अन्तरिक्ष में अवकाश का दाता है ।[2] (माता अदितिः) माता अदिति है, अर्थात यह अखण्डनीय देव माता मातृशक्ति को प्रदान करने वाली है, (सः पिता) वह पितृ शक्ति का प्रदान करने वाली है ।[3] वा पिता के धर्मों कर्तव्यों को बनाने वाला है (सः पुत्रः) वह पुत्र के धर्मों को-कर्तव्यों को स्थापित करने वाला है; (विश्वे देवा-अदितिः) वह विश्व के सब देव-देव शक्तियों को प्रेरित करने वाली है (पञ्चनजनाः अदितिः) पञ्चजन अर्थात् पांच वर्गों-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, शूद्र और निषाद के रूप में जो उत्पन्न हाते हैं वे भी अदिति हैं। अर्थात् उन सब उत्पन्न होने वालों की वह अदिति-उनका भी निर्माण करने वाली है(जातं अदिति जेनित्वम् अदितिः)जो अभी तक

१ तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' कठ.व०५.१५)मु०२.२.१०
२ स सर्वेषामाकाशः—आकाशस्याप्याकाश यः-
 त्वमस्य पारे रजसो विमानः । ऋ.१.५२.१२०
३ "त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रता बभूविथ" ऋ. ८.९८.११)

उत्पन्न हो चुका उस का और जो आगे उत्पन्न होने वाला जगत्-हैं उसके पीछे भी अव्यक्त रूप से निर्माण करने वाला अदिति होने से यह सब भी अदिति ही हैं। इस प्रकार ये सब उस अदिति :-अखण्डनीय देवमाता परमात्मरूप शक्ति से उत्पन्न होने से अदिति ही है। इस प्रकार वह अग्नि का अग्नि है, सूर्य का सूर्य है, आत्मा का आत्मा है, अर्थात् यह अग्नि, यह सूर्य, यह आत्मा तो उसके शरीर है।[1]

जो उपासक अदिति के इस रहस्य को समझ जायेगा वह उसके महत्व को हृदय से अनुभव करता हुआ उसका सच्चा उपासक बनकर उसमें एकाग्रचित्त होकर उसके अद्वितीय स्नेह, आनन्द का लाभ उठाकर निहाल होगा।

१- शतपथ - तस्यपरमात्मनो अग्नेरग्नित्वात्, सूर्यस्य सूर्यत्वात्, आत्मन आत्मत्वात्, "यस्यात्माशरीरम्
श०य०१४.६.७.३० ॥

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ९७. मन्त्र १–८ ॥

ऋषिः–कुत्स आङ्गिरस। देवता–अग्निः। छन्दः-१,७ ८, पिपीलिकामध्यनिचृद् गायत्री। २,४,५ गायत्री। ३,६ निचृद् गायत्री। स्वरः षड्ज।

उपर्युक्त सूक्त में पाप के विनाश के लिये अग्नि स्वरूप-प्रकाशरूप प्रभु से प्रार्थना की गई है। और इस पर बल देने के लिये सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में "अप नः शोशुचदघम्" –इस वाक्य की आवृत्ति की गई है। सूक्त का प्रारम्भ भी इसी वाक्य से ही किया गया है। इस सूक्त में केवल पाप को दूर करने की ही प्रार्थना नहीं की गई, किन्तु उसे दूर करके भस्म कर देने की भी अभ्यर्थना की गई है। क्योंकि यह पाप उन कीटाणुओं के समान हैं कि जिन को केवल दूर करना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उन्हे दूर करके भस्मसात् कर देना - जला कर खाक कर देना भी आवश्यक है। यही कारण है जो यहां–इस सूक्त में परमात्मा को अग्नि नाम से स्मरण करते हुए सम्बोधित किया गया है। अब जिस प्रकार से यह अग्नि रोग के सब कीटाणुओं को भस्म कर देती है और फिर वे कीटाणु किसी को हानि नहीं पहुंचा सकते, उसी प्रकार यह पावन परमेश्वर भी अग्निस्वरूप है। उसके प्रभाव से जब हमारे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं तो फिर तब हमारे उन पापों में

फँसने की सम्भावना नहीं रहती । पाप की उत्पत्ति विषयासक्ति से होती है । अतः उन विषयों से पृथक् रहकर परमेश्वर की ओर अपना मन लगाने से तथा उस से पाप दूर करने की हार्दिक प्रार्थना करने से पाप के प्रभाव से बचने की सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता है ।

इस प्रकार जो मानव हृदय से यह चाहते हैं कि वे पापों से दूर रहें-पापों से बचे रहें, तो उन्हें चाहिये कि वे इस सूक्त का नित्यप्रति स्वाध्याय करें, इस पर मनन-चिन्तन और निदिध्यासन करें, और इस के अनुसार वे जहाँ इसके लिये प्रकाशस्वरूप प्रभु से प्रार्थना करें, वहाँ वे इन पापों से सदा दूर-परे-हटकर रहने का हार्दिक प्रयास भी करें ।

—❋—

हमारे पाप नष्ट हो जाएं ।

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् । अप नः शोशुचदघम् ॥१॥

अन्वय:-अग्ने! नः अघम् अपशोशुचत्, रयिम् आशुशुग्धि । [1] नः अघम् अपशोशुचत् ।

संक्षिप्त अन्वयार्थ:-हे अग्निस्वरूप प्यारे परमेश्वर ! तू हामरे पापों को दूर करके जला डाल, और तू हमारे रयि-एश्वर्य को पवित्र कर । तू हमारे पापों को दूर करके भस्मसात् कर ।

---

१ अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथा अहो दर्शनीय! अहो दर्शनीय !
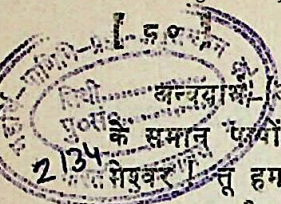
अन्वयार्थ-(अग्ने ! नः अघम्[2] अपशोशुचत्) हे अग्नि के समान पापों को भस्मसात् करने वाले तेजःस्वरूप परमेश्वर ! तू हमारे पाप पुञ्च को हम से पृथक् करके भस्म कर. और (रयिम्[3] आशुशुग्धि) तू हमारे अन्दर जो भी कुछ ऐश्वर्य-सद्गुण हैं, उन्हें और भी अधिक पवित्र कर। (नः अघम् [4]अपशोशुचत्) हे प्रभो ! तू हमारे पापों को दूर कर, उन्हें भस्मसात् कर दे।

यद्वा-(अग्ने! नः अघम् अपशोशुचत्) हे तेजोमय प्रभो! तू हमारे अघसमूह को दूर कर, और (रयिम् आशुशुग्धि) तू हमारे भीतर विद्यमान अध्यात्मिक ऐश्वर्य को और शुद्ध पवित्र कर-और अधिक निखार। हे भगवन् ! (नः अघम् अपशोशुचत्) तू हमारे अघौघ को हम से परे हटा।

उपासकों को चाहिये कि वे अपने आपको अग्नि में ऐसे समर्पित कर दें जैसे कि स्वर्णकार अपने स्वर्ण को अग्नि में झोंक देते हैं। ऐसा करने पर स्वर्णकार के स्वर्ण का जैसे मैल आदि भस्म हो जाता है और स्वर्ण कुन्दन बनकर बाहर आ जाता है, ऐसे ही उपासक जब तुझ पावन परमेश्वर में अपने को समर्पित कर देते हैं, तो तब उनका सब अघौघ-पाप पुञ्ज-पाप समूह भस्म हो जाता है। वे भी तब कुन्दन बन कर निखर आते है। तब उनके भीतर का जो रयि-आध्यात्मिक ऐश्वर्य होता है. वह तो फिर और भी निखर आता है-और भी देदीप्यमान हो उठता हैं-चमक उठता है।

—◎—

२ अपपूर्वःशुचिरत्र सामर्थ्यदनयने। व्यत्ययेन प्रथमः पुरुषः। अपनय।

३ आशुशु-आ समन्तात् शोधय-प्रकाशय। शुशुग्धि-शुचदीप्तौ लेटि रूपम्।यद्वा शोशुचत्-ईशुचिर पूतिभावे(दिवा०)शुच यङ्लुक

४ शोशुचत्-शोशुच्यात्। अपशोशुचत्-बार-बार निवारण कीजिये वा पुनः पुनः दूरी कुर्यात।

ऊंची अभिलाषा से हम आप की उपासना करें।

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचत् ॥२॥

अन्वयः-सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च [वयं] यजामहे। नः अघम् अपशोशुचत्।

सं० अन्वयार्थः-[अग्ने] हे प्रभो! उत्तम क्षेत्र की इच्छा से, उत्तम मार्ग की इच्छा से और उत्तम धन-धान्य आदि की इच्छा से हम आप का यजन करते हैं-पूजन करते हैं। तेरे यजन से हमारा अघसमूह [1]नष्ट जाए।

अन्वयार्थः- हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! ([2]सुक्षेत्रिया, [3]सुगातुया [4]वसूया च यजामहे) उत्तम क्षेत्र[5]-शरीर की अभिलाषा से, अच्छे-उत्तम मार्ग पर चलने की अभिलाषा से और बसने-बसाने के साधनों की अभिलाषा से हम तुझ प्रकाशस्वरूप प्यारे प्रभु की पूजा-उपासना करते हैं।

---

१ अपशोशुचत्-विनश्यतु (सायण)। अस्माकं पापमपगच्छतु अस्मान् अत्यन्तंदहत।

२ सुक्षेत्रिया-शोभनं क्षेत्रं सुक्षेत्रम्। तदिच्छया-शोभनक्षेत्रेच्छया (वेंकटमाधव)

३ सुगातुया-शोभनमार्गेच्छया (वेङ्कट)

४ वसूया-धनेच्छया। (वेङ्कट)

५ क्षेत्रम्-शरीरम्। "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" गीता (१३,१)। इसमें सु-अच्छे-उत्तम कर्मों के बीज बोए जाने पर यह सुक्षेत्र बन जाता है।

(नः अवम् अपशोशुचत) तेरे यजन से हमारा पाप नष्ट हो जाए-जल के राख हो जाए-जल के खाक हो जाए-। अथवा आप हमारे पाप पुञ्ज को नष्ट करो।

उपासकों को चाहिये कि वे अपने क्षेत्र-शरीर [सूक्ष्म शरीर में ऐसे उत्तम विचारों के बीज बोएँ कि जिस से उनका क्षेत्र-शरीर-सुक्षेत्र बन जाए-उत्तम बीजों को बोने का एक दिव्य स्थान बन जाए। इस शरीर-रूप क्षेत्र को सुक्षेत्र-उत्तम बीज बोने का स्थान बनाने की इच्छा से ही उनको उस ज्ञानस्वरूप प्रभु की पूजा-करनी चाहिये। साधकों का प्रयास होगा, प्रभु की महती कृपा होगी तो उनको यह इच्छा अवश्य पूरी होगी।

साधक उत्तम मार्ग पर चलने की इच्छा से भी यदि उपासना करेंगे और उसके वेद का स्वाध्याय करेंगे तो निःसन्देह एक न एक दिन वे उत्तम मार्ग - स्वस्ति मार्ग के मार्ग के सच्चे राही बन जायेंगे। यह इच्छा भी यदि वे प्रभु की शरण में सच्चे हृदय से बैठेंगे तो उनकी अवश्य पूरी होगी।

वसूया-वसु-धन वा वास् के हेतुभूत साधन खान-पान, रहन-सहन आदि की इच्छा से जी-जान से पुरुषार्थ करते हुए ये उस प्रकाशस्वरूप प्रभु को याद करेंगे तो निःसन्देह धन-धान्य, सुख-सौभाग्य के साधनों का भी फिर कभी उन्हें अभाव नहीं रहेगा।

साधकों की सब से बड़ी चाह होती है कि इन सब इच्छाओं की पूर्ति में यदि उनके भीतर कोई अघ-पाप आजाए तो वह प्रभुवर अपने तेजोमय पुञ्ज से उसको भस्मसात् करदे।

वह साधक 'अघ' से इसलिये बचना चाहता है कि वह 'अघ' उस को भीतर ही भीतर से ऐसे खोखला बना देता है जैसे कि दीमक वा घुन लकड़ी को खाकर खोखला बना देता है।

—❀—

हम सर्वोत्तम उपासक होवें। हमारे पाप नष्ट हों।

प्रयद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः। अप नः शोशुचदघम् ॥२॥

अन्वय—अग्ने! यत् एषां प्रभन्दिष्ठः [अहं] [तथा] अस्माकासः सूरयः च [भन्दिष्ठाः स्युः]। नः अघम् अपशोशुचत्।

सं० अन्वयार्थः—हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! जैसे इन स्तोताओं, उपासकों के बीच प्रकृष्ट स्तोता - उपासक-तेरी आज्ञाओं का पालन करने वाला मैं होऊं, ऐसे ही हमारे ये विद्वान् स्तोता पुत्र-पौत्र आदि भी तेरे प्रकृष्ट स्तोता-उत्तम उपासक हों। आपकी कृपा से हमारे सब पाप नष्ट हों-समाप्त हों।

अन्वयार्थः- [अग्ने।] हे ज्ञानस्वरूप प्यारे प्रभुवर ! [1]यत् एषां [2]प्रभन्दिष्ठः) यथा जैसे इन सब स्तोताओं-भक्तों-साधकों-उपासकों में मैं प्रकृष्ट-उत्तम स्तोता-भक्त-साधक-उपासक होऊं, तथा ठीक जैसे ही(अस्माकासः[3]) सूरयः च [प्रभन्दिष्ठाः स्युः] हमारे विद्वान् स्तोता पुत्र-पौत्र आदि सम्बन्धी भी प्रकृष्ट - उत्तम स्तोता-भक्त-साधक-उपासक-तेरी आज्ञाओं को जी-जान से मानने वाले हों। (नःअघम् अपशोशुचत्) तेरी अनुकम्पा से हमारे पाप विनष्ट हों-जल के राख हो जाएं।

सच्चे सतोता उपासक को चाहिये कि वह सब स्तोताओं उपासकों-भक्तों मैं प्रकृष्ठ-उत्तम स्तोता-उपासक-भक्त बने। इसके लिये वह सच्चे हृदय से ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे । वह कहीं ये संस्कार अपने साथ ही न ले चले, वरन हार्दिक प्रयास करे कि उसकी आने वाली पीढ़ी में भी जो सूरी विद्वान् स्तोता-उपासक हों वे भी उत्तमोत्तम स्तोता-उपासक-भक्त बनें। वे भी जी-जान से ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करें। इस तरह परमेश्वर के सान्निध्य से और उसकी अनुकम्पा से हम सबके पाप नष्ट हों-जल कर खाक हो जाएं।

---

१ यत्-यथा (सायण)

२ भन्दिष्ठः-भन्दिरर्चतिकर्मा (निघ० ३.१४) भन्दति-स्तुति कर्मा। भदि कल्याणे सुखे च। अतिशायने तमबिष्ठिनौ च।

३ अस्माकासः-अस्माकं सम्बन्धिनः अस्माकाः। स्वार्थे असुक्।

जैसे तेरे भक्त बढ़ें वैसे ही हम भी बढ़ें।

प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्। अप नः शोशुचदघम् ॥४॥

अन्वयः-अग्ने ! यत् ते सूरयः [प्रजायन्ते] [तथा वयमपि] ते [स्तोतारः सन्तः] प्रजायेमहि। नः अघम् अपशोशुचत्।

सं०अन्वयार्थः-हे प्रभो ! जैसे तेरे स्तोता बढ़ते हैं-समुन्नत होते हैं. वैसे ही हम भी तेरे स्तोता-भक्त बन कर खूब बढ़ें। तेरे सम्पर्क से हमारे पाप नष्ट हों।

अन्वयार्थः-(अग्ने ! यत् ते सूरयः [प्रजायन्ते])जैसे-जिस ढंग से तेरे स्तोता-भक्त-उपासक-तेरी आज्ञाओं को मानने वाले महानुभाव अपने जीवन में सब प्रकार से खूब बढ़ते हैं। ([तथा] वयं च) ते [स्तोतारः] प्रजायेमहि) वैसे ही हम भी तेरे सच्चे स्तोता-भक्त-उपासक-बनकर सब प्रकार से खूब बढ़ें-समुन्नत हों। (नः अघम् अपशोशुचत्) तेरी कृपा से हमारे पाप नष्ट हों।

हम सदा गम्भीरता से देखें कि हृदय से प्रभु की आज्ञाओं को शिरोधार्य करने वाले स्तोता-भक्त-उपासक कैसे बढ़ते हैं उनको देख-देख कर हम भी सच्चे-सुच्चे स्तोता-भक्त-उपासक बनकर खूब उन्नत-समुन्नत हों। प्रभु की उपासना करते हुए हम ऐसा यत्न करें कि हमारे पाप जल कर राख हो जाएं।

—o—

प्रभु अपने तेज से हमारे पाप समूह को नष्ट करे।

प्रयदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। अप नः शोशुचदघम् ॥५॥

अन्वयः–सहस्वतः अग्नेः भानवः विश्वतः प्रयन्ति, [सः] नः अघम् अपशोशुचत्।

सं० अन्वयार्थः–जिस बलवान् अग्नि देव की दीप्तियाँ सब ओर से गति कर रही हैं, वह प्रभु हमारे पापों को नष्ट करे।

अन्वयार्थः- ([1] यत्-यस्य [2]सहस्वतः अग्नेः भानवः विश्वतः प्रयन्ति) जिस अत्यन्त बलशाली प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के नानाविध प्रकाश सब ओर से प्रकाशमान हो रहे हैं ([सः] नः अघम् अपशोशुचत्) वही प्रकाशस्वरूप प्रभु हमारे अघ-ओघ-पाप समूह को नष्ट करे।

उपासक को चाहिये कि वह अपने पापों को नष्ट करने के लिये उस अत्यन्त बलशाली प्रकाशस्वरूप प्रभु का आश्रय ले जिससे नानाविध ज्ञान के प्रवाह प्रवाहित होते रहते हैं : उसी की ज्ञानज्योतियों के प्रकाश में ही वह उपासक स्वस्ति का पथिक बनकर अपना कल्याण कर सकेगा।

—●—

१ यत्-इति षष्ठया लुग्द्रष्टव्यः (स्कन्द स्वामी

२ सहस्वतः बलवतः।

अथवा-(सहस्वतः अग्नेः भानवः विश्वतः प्रयन्ति) अत्यन्त बलशाली प्रकाशस्वरूप प्रभु की दीप्तियाँ-प्रकाश सब ओर प्रकट हो रहे हैं, प्रकाशमान हो रहे हैं (यत् यस्मात्) जिस प्रभु से ये प्रकाश उत्पन्न हो रहे हैं, उसी तेजः स्वरूप प्रभु से (नः अघम् अपशोशुचत्) हमारे पाप विनष्ट हों।

हे प्रभुवर! तू विश्वतोमुख होकर सब को सदुपदेश देता है

त्व हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । अप नः शोशुचदघम् ॥६॥

अन्वयः- [विश्वतोमुख! [अग्ने!]त्वं हि विश्वतः परिभूः असि । नः अघम् अपशोशुचत् ।

सं०अन्वयार्थः-हे सब ओर से मुख वाले परमेश्वर! तू सब ओर से सब का अभिभव करने वाला ही है। तेरी अनुकम्पा से हमारे पाप नष्ट हों ।

अन्वयार्थः- [1] (विश्वतोमुख) सर्वत्र मुख वाले वा सब ओर से मुख वाले वा सर्वत्र सब ओर से सबको उपदेश देने वाले ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (त्वं हि विश्वतः [2] परिभूः असि) तू हि सब ओर से सबके ऊपर वर्तमान है। नः अघम् अपशोशुचत्) तेरी प्रेरणा से हमारा पाप दूर हो।

वह प्रकाशस्वरूप परमेश्वर 'विश्वतोमुखः' सब ओर से अर्थात् दशों दिशाओं से मुख वाला है। वह सब ओर से अर्थात् चारों दिशाओं–चारों अवान्तर दिशाओं तथा ऊपर

---

१ विश्वतोमुख !-सर्वतोमुख !

२ परिभूः+भू सत्तायाम् (भ्वा०) परिभवतीति परिभूः ।

नीचे से भी सब को देख रहा है । वह केवल सब को सब ओर से देख ही नहीं रहा, वरन् सब को सर्वत्र सब ओर से सदुपदेश भी दे रहा है। वह सब ओर से सत्तावाला है. सर्वदा सर्वत्र अपनी सत्ता से सब के ऊपर विराजमान है। जो उस की सत्ता की महत्ता को स्वीकार नहीं करता उसे इसी जीवन में बहुत शीघ्र ही उसकी सत्ता का भान हो जाता है और तब वह उसी के निर्देशन में पाप-तापों से दूर होकर स्वच्छ निर्मल-पवित्र जीवन व्यतीत करने लगता है।

—●=

प्रभो! नाव से नदी सम हमें द्वेषों से पार पहुंचा ।

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय । अप नः शोशुचदघम् ॥७॥

अन्वयः- [1]विश्वतोमुख [अग्ने!]नावा इव नः द्विषः अतिपारय । नः अघम् अपशोशुचत् ।

सं० अन्वयार्थः- हे सर्वतोमुख प्रकाशस्वरूप प्रभो ! नौका से जैसे नदी को पार किया जाता है, वैसे ही तू हमें सब द्वेषों-सब अप्रीतियों से पार कर-सब शत्रुओं से पार कर। तेरी कृपा से हमारे पाप नष्ट हो जाएं।

---

१ विश्वतोमुख ! विश्वतो मुखं यस्य स विश्वतोमुखः, तत्सम्बुद्धौ-विश्वतोमुख ।

अन्वयार्थः-(विश्वतोमुख [अग्ने] हे सर्वतोमुख सब ओर से सबको देखने और सन्मार्ग का उपदेश करने हारे ज्ञानी परमेश्वर! (नावा इव) नौका से जैसे नदी को पार किया जाता है, वैसे ही (न द्विषः अतिपारय) तू हमें धर्म से द्वेष करने वाले से वा काम क्रोध लोभ मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं से पार पहुंचा। तेरी अनुकम्पा से (नः अघम् अपशोशुचत्) हमारे पाप दूर हो जाएं और दूर होकर जल के राख हो जाएं।

भगवान् विश्वतोमुख है। वह हमें सर्वदा सर्वत्र सदुपदेश देता है-सन्मार्ग की प्रेरणा देता रहता है। उसके सदुपदेशों को यदि हम हृदयङ्गम करें तो जैसे मनुष्य नाव से तैर कर पार पहुंच जाते हैं ऐसे हम भी प्रभु के उपदेशों के सहारे द्वेष से तर जायेंगे वा काम क्रोध लोभ मोह आदि शत्रुओं से तर जायेंगे। इस तरह शनैः-शनैः हमारे सब पाप-ताप नष्ट हो जायेंगे—भस्मसात् हो जायेंगे।

—❁—

प्रभो तू हमें भव सागर से तार।

स नः सिन्धुमिव [1]नावयाति पर्षा [2]स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम् ॥८॥

---

१ नावया—नावा

२ स्वस्तये—कल्याणाय।

अन्वयः-[अग्ने] सः [त्वं]नावया सिन्धुम् इव स्वस्तये नः अतिवर्ष ।

सं० अन्वयार्थ-हे प्रभो! वह तू नौका से जैसे सिन्धु-सागर को तरा जाता है वैसे ही हमारे कल्याण के लिये तू हमें इस द्वेष सागर वा भवसागर से तार । तेरे सहारे हमारे सब पाप नष्ट हों ।

अन्वयार्थ-[अग्ने!] हे प्रकाशस्वरूप प्यारे प्रभुवर! (सः [त्वं] नावया सिन्धुम् इव) वह तू नौका से जैसे सागर को पार किया जाता है, वैसे ही (स्वतये नः[1] अतिषर्ष) स्वस्ति- अविनाश अर्थात् कल्याण के लिये तू हमें द्वेष सागर व भवसागर से तार । इस प्रकार (नः अघम् अपशोशुचत्) हमारे सब पाप-ताप तेरी अनुकम्पा से समाप्त हो जाएं और हम फिर तेर अद्वितीय प्यार के पात्र वन जाएं ।

साधकों को चाहिये कि वे हृदय से उस प्रकाशस्वरूप प्रभु की उपासना करें । इस से उनके तेजः स्वरूप से उन के पाप-ताप नष्ट होंगे । उनका फिर पूर्णकल्याण होगा और फिर वे सभी प्रकार के द्वेषों से तर जायेंगे-सभी प्रकार की अप्रीतियों से तर जायेंगे और अप्रीतियों से तरते ही फिर वे भवसागर से तर कर प्रभु के पास पहुंच जायेंगे और उस से अद्वितीय प्यार के पात्र बनेंगे ।

१अतिपर्षा=अतिपर्ष।अतिपर्षा-द्व्यचोऽतस्तिङः,इति दीर्घत्वम् ।

विष्णु सूक्त

ऋषिः–दीर्घतमा। देवता-विष्णुः। छन्दः १,२ विराट्, त्रिष्टुप् । ३,४,६ निचृत्त्रिष्टुप् । ५ त्रिष्टुप् ।

विष्णु का स्वरूप–ऋग्वेद के पाँच छः सूक्तों में 'विष्णु' का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १५४ वें सूक्त में 'विष्णु' देवता का मुख्य रूप से वर्णन मिलता है। इस सूक्त में छः मन्त्र हैं।

यह 'विष्णु' शब्द "विष्लृ व्याप्तौ" से 'नु' प्रत्यय करने से बनता है। धात्वर्थ के अनुसार 'विष्णु' शब्द का अर्थ हुआ -"वेवेविष्ट व्याप्नोति चराचरं जगदिति विष्णुः– सर्वव्यापकः परमेश्वरः। अर्थात् जो सम्पूर्ण चर-अचर जगत् में अन्तर्यामी रूप से अभिव्याप्त हो रहा है, वह सर्वव्यापक परमेश्वर 'विष्णुः' कहा जाता है। यह नाम परमेश्वर का गौणिक नाम है जो उसके सर्वव्यापकता रूप गुण के आधार पर है। उपर्युक्त सूक्त में परमेश्वर की सर्वव्यापकता का स्पष्ट वर्णन किया गया है। इस विष्णु ने अपने तीनों पदों में सारे संसार को माप डाला। उस अकेले त्रिधातु–तीनों लोकों को धारण करने वाले विष्णु ने ही द्यु, भू और अन्तरिक्ष को धारण किया है, नहीं–नहीं उस अकेले विष्णु ने सकल भुवनों अर्थात् सब लोक लोकान्तरों को धारण किया हुआ है। सम्भवतः इसी

सूक्त के वर्णन के आधार पर पुराणों में दैत्यराज बलि को छल से पराजित करने की विष्णु की वामनावतार की कल्पना की गई है। यही सूक्त ही उस कथा का मूल आधार प्रतीत होता है। कथा के अनुसार वामन ने बलि नाम के दानव से ३ पग भूमि माँगी। राजा बलि ने उस को देना स्वीकार किया। तब उस वामनावतार में विष्णु ने तीन पगों-डगों में ही तीनों लोकों को माप डाला। परन्तु इस सूक्त में 'पद' शब्द का अर्थ पग-डग वा कदम नहीं प्रतीत होता। यहाँ 'पद' अर्थ स्वरूप वा 'तत्व प्रतीत होता है। वास्तव में 'विष्णु' शब्द का अर्थ धात्वर्थ के अनुसार सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर का ही द्योतक प्रतीत होता है।

वेद में यही 'विष्णुः' शब्द सूर्य के अर्थ का भी द्योतक है। क्योंकि यह सूर्य अपनी रश्मियों से द्युलोक-भूलोक और अन्तरिक्षलोक को अभिव्याप्त करता है। यही इस विष्णुः-सूक्त का त्रिविक्रम है-यही इसका तीनों लोक का धारण है।

इसी 'विष्णुः' को 'उरुगायः' भी कहते हैं क्योंकि 'उरुभिः बहुभिः गीयते-स्तूयते इति उरुगायः' यह बहुतों के द्वारा गाया जाता है-बहुतों के द्वारा स्तुति किया जाता है। संसार में इसका बहुत लोग गुणगान करते हैं इस का बहुत यश है, इसकी सर्वत्र गति है-पहुंच है। जब यह हृदय में उदय

होता है, तो सारे प्राणी गतिशील हो जाते हैं, मस्ती से गुन गुनाने लगते हैं, आनन्द से विभोर होने लगते हैं। ऐसे ही विष्णु शब्द के सूर्य अर्थ में जब यह सूर्य उदय होने लगता है, तो सारे मनुष्य पशु पक्षी चहचहाने लगते हैं, यही उसका उरुगान है।

यही विष्णु-व्यापक परमेश्वर इन तीन लोकों को सारे संसार के भुवनों=लोक-लोकान्तरों को अकेला ही धारण करता है। इसी के एक पाद का परिणाम यह सारा संसार है। पर तीन पाद तो इसके मधु के झरने हैं जिस का पान करते ही साधक निहाल हो जाता है।

इस प्रकार इस सूक्त में विष्णु से सर्वव्यापक परमेश्वर और सूर्य अर्थ लेकर सूक्त का अर्थ किया सकता है।

—※—

मैं विष्णु के पराक्रमों का ही गुणगान करता हूं।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१

अन्वयः-यः पार्थिवानि रजांसि विममे, यः उत्तरं सधस्थम् अस्कभायत्, यः त्रेधा विचक्रमाणः उरुगायः [तस्य] विष्णोः वीर्याणि नु कं प्रवोचम्।

सं० अन्वयार्थः-जिसने पृथिवी सम्बन्धी लोकों-स्थानों वा नाना प्रकार की योनियों की विविध प्रकार से रचना की, जिसने ऊपर वाले अतिविस्तृत अनेकों ग्रह जहाँ सह स्थित हैं, ऐसे द्युलोक को भी थामा हुआ है, जो तीन तरह से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ रूप में स्थित तीनों लोकों में अपना पग रखता हुआ-अर्थात् तीनों लोकों में अभिव्याप्त होता हुआ अत्यन्त महती गति वाला, महती कीर्ति वाला, और महान् पुरुषों से खूब स्तुत्य-गाये जाने योग्य है, ऐसे उस सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के वीर्यता पूर्णकर्मों का शीघ्र ही मैं गुणगान करता हूं।

अन्वयार्थः-हे मनुष्यो! (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जिसने पृथिवी के स्थानों वा पृथिवी पर स्थित नाना प्रकार के लोकों-योनियों-शरीरों एवं पदार्थों को विविध प्रकार से बनाया वा जो बनाता है, (यः उत्तरं सधस्थं अस्कभायत्) जिसने उद्गततर-ऊपर के अतिविस्तृत नाना ग्रहों के सहस्थान द्युलोक [वा अन्तरिक्षलोक] को थामा हुआ है या जो थाम रहा है,(यः त्रेधा विचक्रमाणः ऊरुगायः) जो तीन प्रकार से या तीन पगों-डगों से अपने बनाए हुए तीनों लोकों को अभिव्याप्त करता हुआ बहुत बड़ी गतियों वाला, बहुत यशों वाला, और बहुत बड़े-बड़े महापुरुषों से स्तुत्य-गाने योग्य है, ऐसे उस(विष्णोः वीर्याणि नु कं प्रवोचम्) सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर

के वीर्यतायुक्त कर्मों वा-पराक्रमों का मैं शीघ्र ही वर्णन करता हूं ।

जिस सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ने अपनी न्यायव्यवस्था से पृथिवी एवं पृथिवी पर स्थित सब प्रकार के पदार्थों और पशु, पक्षी एवं मनुष्य आदि की नाना रूपों में रचना की, जिसने इन ऊंचे अतिविस्तृत ज्योतियों के सहस्थान द्युलोक को धारण किया, जो अपने त्रिविक्रमों से तीनों लोकों पर छाया हुआ है, जो सब में व्यापक हुआ-हुआ सब को अपनी न्यायव्यवस्था से नियंत्रित किये हुआ है, वह विष्णु महान् गतिविधियों वाला है। वह अपने बहुविध पराक्रमों से अत्यन्त यशस्वी है । वह अपने नाना विध उत्तम गुण, कर्म, स्वभावों के कारण सबके द्वारा स्तुत्य है । ऐसे उस सर्वव्यापक परमेश्वर के महान् वीर्यों-पराक्रमों का उपासक हृदय से वर्णन करता है और इतना ही नहीं वरन् 'कम्' उस के आनन्दस्वरूप का भी अनुभूतिपूर्वक बखान करता है ।

शब्दार्थ व्याकरणादि—

विष्णोः-यह शब्द "विप्लृ व्याप्तौ धातु से 'नु' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है । यह षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। सर्वव्यापक परमेश्वर वा सूर्य यही यहां इसका अर्थ है।

प्रवोचम्-प्र+वच् परिभाषणे धातु के लङ् लकार उत्तमपुरुष

का एकवचन का रूप है।

अस्कभायत्-'स्कम्भु-स्कम्भने' धातु के लङ्लकार एक वचन का रूप है। यहाँ श्ना को शायच् आदेश हुआ। लोक में अस्कभ्नात् बनेगा।

विचक्रमाणः-वि+क्रमु पादविक्षेपे 'लिट् अर्थ में कानच (लिटः कानज्वा)

रजांसि-लोका रजांस्युच्यन्ते। कम् इति पादपूर्णनिपातः' वा आनन्दस्वरूपः परमेश्वरः।

—०—

मन्त्र १—

सूयं परक (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जिसने पार्थिव प्रदेशों को-पदार्थों को और नाना प्रकार के शरीरों को अपने तेज-प्रकाश आदि से विविध रूप में रचा वा धारण किया है, (यः उत्तरं सधस्थम् अस्कभायत्) जिसने अपने आकर्षण से, अपने तेज-प्रकाश से ऊंचे द्युलोक को भी धारण किया हुआ है, (यः त्रेधा विचक्रमाणः उरुगायः) जो अपने तेज-प्रकाश आदि से तीन प्रकार के तीनों लोकों को अर्थात् द्यु-भू और अन्तरिक्ष में अभि-व्याप्त हुआ-हुआ स्वयं बहुत गतिवाला और बहुतों को गति देने वाला, बहुतों से स्तुतियोग्य-प्रशंसायोग्य है, ऐसे उस (विष्णोः वीर्याणि नु कं प्रवोचम्) अपने तेज, प्रकाश आदि से सर्वत्र अभिव्याप्त हुए हुए सूर्य देव के महान् कार्यों का मैं जल्दी ही वर्णन करता हूं। -०-

वह विष्णु अपने पराक्रमो से सर्वत्र पूजा जाता है ।

प्रतद्विष्णुःस्तवते वीर्येण मृगो न भीमःकुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

अन्वयः- यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा-विश्वानि भुवनानि अधिक्षियन्ति, तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते भीमः कुचरः गिरष्ठाः मृगः न ।

सं० अन्वयार्थः- जिसके अत्यन्त विशाल तीन विक्रमों में तीन पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ रूप कार्यों में सभी लोक-लोकान्तर समा जाते हैं वा सभी पदार्थ और सभी प्राणी आधार रूप से रहते हैं। वह विष्णु-सर्वव्यापक परमेश्वर अपने पराक्रम से ऐसा प्रशसित होता है, जैसे कि भयङ्कर कुत्सित्त कर्म करने वाला, गिरिगुहाओं में स्थित रहने वाला गतिशील बब्बर शेर अपने पराक्रम के कारण स्मरण वा प्रशंसित होता है ।

अन्वयार्थः- (यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु) जिस सर्वव्यापक परमात्मा के अत्यन्त विस्तृत [दूर तक फैले हुए]तीन विक्रमों- पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में या सत्व, रजः और तमोरूप त्रिगुणात्मक सृष्टि क्रमों में (विश्वा-विश्वानि

भुवनानि अधिक्षियन्ति) सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर एवं उन में विद्यमान सब प्राणी-अप्राणी रूप पदार्थ आश्रय पाए हुए हैं, (तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते) वह सर्वव्यापक परमात्मा अपने महान् पराक्रम-महान् सामर्थ्य के कारण स्तुता जा रहा है-प्रशंसित किया जा रहा है, (भीमः कुचरः गिरिष्ठाः मृगः न) ठीक ऐसे जैसे कि अत्यन्त भयङ्कर कुत्सित कर्म-हिंसा का आचरण करने वाला वा कुटिलगामी-ऊंचे-नीचे विषम स्थलों में चलने वाला, पर्वत की कन्दराओं वा जंगलों में रहने वाला, निर्भय होकर विचरने वाला सिंह अपनी अपार शक्ति वा भयङ्कर गर्जन के कारण स्तुता जाता है, प्रशंसित किया जाता है।

कई विद्वान् मनुष्य यह समझते हैं कि हमयदि उस 'विष्णु' को न गायें, न स्तुतें, तो उसको कोई न जाने-न पहचाने। पर इस मन्त्र में यह बताया गया है कि उस सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति हमारे प्रचार आदि के कारणों से नहीं की जाती, वरन् उसके महान् पराक्रमों के कारण उसकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, उसके इन त्रिविक्रमों में ही सब लोक-लोकान्तर, संसार के सब पदार्थ समाए हुए हैं। उसके तीन विक्रम संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी हैं। उसके इन तीनों विक्रमों में कुछ उत्पन्न हो रहा होता है, कुछ धारण-स्थित हो रहा होता है और कुछ समाप्त हो रहा होता है। अपनी उत्पत्ति,

स्थिति और प्रलय के चक्र पर वह सब को चढ़ाए हुए है। जब वह कुछ उत्पन्न करता है तो उस के नाना विध आश्चर्य-जनक उत्पादनों को उसके अद्वितीय विक्रम-कार्य को देख कर मनुष्य उसका गुणगान करते हुए नहीं थकते। जब वह यह सब कुछ उत्पन्न कर उसको धारण करता है, अपनी न्याय व्यवस्था से सब को सुख-दुःख देता है, तो तब भी सब उस को गाते नहीं अघाते। पर जब प्रलय के रूप में सब का संहार करता है तो भी सब 'त्राहि माम्! त्राहि माम्!' करते हुए उन आर्त स्वरों में वा अगाध श्रद्धा भक्ति और प्रेम भरे स्वरों में उसको गाते हुए नहीं थकते।

सचमुच जब उपासक उसके अनोखे क्रिया-कलापों में उसकी दिव्य सामर्थ्य, उसकी परम अद्वितीय प्रतिभा, उस का अद्वितीय कौशल, उसकी अनुपम न्यायव्यवस्था, उसकी दया, उसकी कृपा को देखते हैं तो सहज ही उनके हृदयों से उसका श्रद्धा भक्ति प्रेम भरे भावों में गुणगान प्रस्फुटित होने लगता है। सो यह सब उसके भक्तों के कारण से नहीं, उस प्रभु के दिव्य अनुपम विक्रमों के कारण से ही होता है।

शब्दार्थ व्याकरण-प्र+स्तवते-'ष्टुज स्तुतौ धातु से कर्म में लट् प्र०पु० एक वचन। सायण कर्म वाच्य में मानकर प्रस्तूयते अर्थ करते हैं।

कुचरः-कु+चर+ट। कुत्सित हिंसा आदि कर्म करने वाला। कुत्सित हिंसा कर्मकर्ता।

गिरिष्ठाः- गिरिषु तिष्ठति-इति गिरिष्ठाः। गिरि+स्था+क्विप्। तत्'-पद का लिंग व्यत्य से पुंलिंग में 'सः' कर लेना चाहिये, जो विष्णुः का विशेषण हो जायेगा।

विष्णु के लिये मेरी स्तुति फलदायक हो ।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ।। ३ ।।

अन्वयः- यः एक इत् त्रिभिः पदेभिः दीर्घं प्रयतं सधस्थं विममे, [तस्मै] गिरिक्षिते उरुगावाय वृष्णे विष्णवे शूषं मन्म प्र एतु ।

सं० अन्वयार्थः–जिसने अकेले ही पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक रूप तीनों पदों–स्वरूपों से इस लम्बे-चौड़े साथ रहने वाले स्थान] ब्रह्माण्ड का निर्माण किया, पर्वत तुल्य सर्वोच्च स्थान पर स्थित वा वाणियों में स्थित, बहुतों से बहुत प्रकार से बहुत स्तुत-प्रशंसित, सुखों की वर्षा करने वाले अत्यन्त पराक्रम युक्त विष्णु भगवान् के लिये मेरा यह सामर्थ्यवान् मनन-स्तवन प्राप्त हो । अर्थात् मनन-स्तवन फलदायक हो ।

मन्त्र२ सूर्यपरक अर्थ–जिसके तेजःप्रकाश आदि के द्वारा फैलाए त्रिविक्रमों–तीन पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोक में पदार्थ, और स्थान आश्रय पाए हुए हैं, वह विष्णु–सूर्य अपने तेजः, प्रकाश रूप शक्ति से स्तुता जाता है, ऐसे, जैसे भयङ्कर ऊंचे-नीचे स्थलों में विरचने वाला, गिरिगुहाओं में रहने वाला, अत्यन्त सशक्त तीव्रगति वाला तेजस्वी सिंह अपने पराक्रम से प्रशंसित किया जाता है ।

सूर्य का तेज सिंह से बढ़कर भयङ्कर है । उसकी गति सर्वत्र है, [क्वायं न चरतीति अर्थात् सर्वत्र चरतीति] ।

अन्वयार्थः- (यः एकः इत् त्रिभिः पदेभिः) जिस सर्वव्यापक परमेश्वर ने अकेले ही बिना किसी की सहायता के ही अपने तीन पदों-अपने तीन भू, अन्तरिक्ष और द्युलोक रूप त्रिविक्रमों से (इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थं विममे) इस विशाल दूर तक फैले हुए=इस लम्बे-चौड़े साथ-साथ रहने के स्थान रूप जगत् को बनाया है, उस (गिरिक्षिते उरुगायाय, वृष्णे विष्णवे शूषं मन्म प्र-एतु) गिरि-पर्वत सम सर्वोच्च पद पर विराजमान वा भक्तों-उपासकों की वाणियों पर स्थित बहुतों से बहुविध बहुत गाए जाने वाले अत्यन्त पराक्रमी सुखों की-आनन्दों की वर्षा करने वाले; सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमात्मदेव के लिये मेरा यह समर्थ मनन वा स्तवन पहुंचे, अर्थात् मेरी हार्दिक प्रार्थना पूर्ण हो।

वह सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर अकेला ही लम्बे-चौड़े अतिविशाल इस सधस्थ-संसार को बनाता है। इसमें सब अपने-अपने जैसे प्राणियों के साथ-साथ मिल कर रहते हैं। मनुष्य मनुष्यों के साथ, पशु-पशुओं के साथ, पक्षी पक्षियों के साथ, उनमें भी चिड़ियाँ-चिड़ियों के साथ, तोते-तोतों के साथ, बन्दर-बन्दरों के साथ, भेढ़े-भेढ़ों के साथ, गौएं गौओं के साथ, आदि आदि। इस अतिविशाल ब्रह्माण्ड के बनाने में वह किसी अन्य व्यक्ति की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। वह गिरिक्षित -गिरिसम अत्यन्त

उच्चतम स्थान-पद पर विराजमान, उत्तम भक्तों की वाणियों में उसका निवास है। उसको बहुत लोग गाते हैं, बहुत प्रकार से गाते हैं, बहुत अधिक गाते हैं। वह 'वृष्ण' अत्यन्त बलशाली है, वह सुख आनन्दों का वर्षक है। ऐसे उस सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी को मेरा स्तवन प्राप्त हो।

मन्त्र ३ शब्दार्थ व्याकरण-शूषम्=बलम्।

मन—मन्म+मनिन्। मननीयं स्तोत्रम्।

गिरिक्षते-गिरिषु पर्वतेषु सर्वोच्चस्थानेषु क्षियति निवसतीति+क्विप्-गिरिक्षित् तस्मै

सधस्थम्—सह तिष्ठन्ति यत्र तत् सधस्थम्। सर्वेषां निवासस्थानम्।

वृष्णे=चतुर्थ्येकवचनम्। कामानां वर्षित्रे (सायण)

उरुगायाय—बहुभिः गीयमानाय। —❀—

मन्त्र ३-सूर्यपरक अर्थ-जो अकेला ही अपने तेजः, प्रकाश आदि से अपने त्रिविक्रमों से तीनों लोकों में अपने प्रदान किये हुए तेज-प्रकाश आदि से इस अत्यन्त विशाल दूर-दूर तक फैल हुए सहस्थान-संसार का निर्माण करता रहता है-नानाविध ऋतुओं और ऋतुओं के अनुरूप पदार्थों को उत्पन्न करता रहता है, उस गिरिक्षित्-गिरि सम अत्यन्त उन्नत वा उत्कृष्टस्थान द्युलोक में विराज-मान, अपने तेज-प्रकाश से सर्वत्र फैले हुए, सबसे स्तुत्य,सुख

उस विष्णु को मेरी स्तुति फलदायक होने को प्राप्त हो।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

अन्वयः-यस्य मधुना पूर्णा त्री पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति, य उ त्रिधातु पृथिवीम् उत द्याम् [उत अन्तरिक्षम्] [दाधार इति एतदेवोक्तम्] एको दाधार भुवनानि विश्वा ।

सं० अन्वयार्थः- जिस विष्णु के मधुर रस से भरे हुए तीन पद-तीनों लोक कभी क्षीण न होते हुए अपने अपने अन्न से सबको तृप्त करते हैं, जो तीनों लोकों को धारण करने वाला परमेश्वर पृथिवी और द्यौ [तथा अन्तरिक्ष] लोक को धारण करने के कारण ऐसा कहा गया है कि वह अकेला ही सारे भुवनों को धारण करता हैं ।

अन्वयार्थः-(यस्य मधुना पूर्णा [-पूर्णानि] त्री [त्रीणि] पदानि अक्षीयमाणा [अक्षीयमाणानि] स्वधया मदन्ति) जिस सर्वव्यापक परमेश्वर के मधुर रस से परिपूर्ण तीनों पद-तीनों लोक कभी न क्षीण होते हुए अपने अपने अन्न

सौभाग्यों के वर्षक, तेज और प्रकाश से सब जगह व्यापक सूर्य देव के लिये हमारा यह वीर्ययुक्त= शक्ति भक्तियुक्त मनन पहुंचे ;

से-अपने अपने भोग्य पदार्थों से हम सबको हर्षित करते वा तृप्त करते हैं (यः उ त्रिधातु) जो तीनों लोकों को धारण करने वाला परमात्मा (पृथिवीम् उत द्याम् [उत अन्तरिक्षम्]) पृथिवी लोक और द्युलोक तथा अन्तरिक्ष लोक को धारण करने के कारण से(एकः विश्वा-विश्वानि भुवनानि दाधार) वह अकेला ही सब भुवनों-लोकों और इनमें विद्यमान सब लोगों को धारण कर रहा है, ऐसा कहा जाता और माना जाता है।

जिस विष्णु के ये तीन लोक मधुर रस से भरे हुए हैं और क्षीण नहीं होते हुए क्षण पल घड़ी दिन रात ऋतु आदि कालों में ये अपने अपने रसों से=अपने-अपने पदार्थों से सबको प्रसन्न-तृप्त करते रहते हैं। सूर्य चन्द्र आदि-आदि अपने-२ तेज प्रकाशादि से, अन्तरिक्ष वर्षा वायु आदि से और पृथिवी अपने नानाविध खाद्यों और पेय रसों से सबको तृप्त करते रहते हैं। वह अकेला विष्णु-सर्वव्यापक परमेश्वर ही इन सब लोकों और इनमें आश्रित प्राणियों को धारण कर रहा है। उसी की अद्वितीय न्याय व्यवस्था से यह सारा संसार चल रहा है। अतः मनुष्यों को ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिये कि वे सदा उसके स्नेह, आनन्द के पात्र बने रहें।

शब्दार्थ व्याकरणादिः– त्री, पूर्णा तथा अक्षीयमाणा इन तीनों पदों में 'शेश्छन्दसि' से 'शेर्लुक्' शि का लुक् और
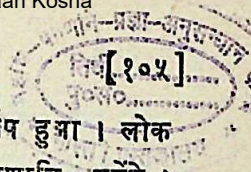
न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य, से 'न' का लोप हुआ। लोक में इनके रूप त्रीणि, पूर्णानि, अक्षीयमाणानि बनेंगे। विश्वा–विश्वानि। यहाँ भी शि का लुक् हुआ।
मदन्ति-मादयन्ति तर्पयन्ति। अत्र णिचो लोपः। मद हर्षे।
त्रिधातु—त्रयाणां लोकानां धारयिता।

—◆—

वही हमारा सच्चा बन्धु है।

उस विष्णु के परम पद में मधु का झरना है।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्स. ॥५॥

अन्वयः–अस्य तत् प्रियं पाथः अभि–अश्यां, यत्र देवयवः नरः मदन्ति। स हि इत्था बन्धुः, [तस्य] उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः उत्सः।

मन्त्र ४- सूर्य परक अर्थ- जिस सूय के आश्रित मधुर रस से परिपूर्ण तीनों लोक न क्षीण होते हुए अपने अपने अन्न से [तेज प्रकाश, मेघ विद्युत वायु और अन्न-रस, फूलों फलों आदि से] सबको हर्षित-प्रसन्न वा तृप्त करते हैं, जो निश्चय ही प्रभु की व्यवस्था से तीनों लोकों का धर्ता–पृथिवी द्यौ और अन्तरिक्ष इन तीनोंलोको के धारण करने के कारण से यह सूर्य अकेला ही सब लोकों और इन लोकों में विराजमान प्राणियों का धारण करने वाला कहलाता है।

सं० अन्वयार्थ–इस विष्णु के उस प्रिय ब्रह्मलोक को मैं प्राप्त होऊं, जहाँ दिल से उस देव को चाहने वाले साधक तृप्त होते रहते हैं। वह विष्णु ही हमारा बन्धु है। उस महापराक्रमी सर्वव्यापक प्रभु के परम पद में-अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप में ही मधु का स्रोत है।

अन्वयार्थः–(अस्य तत् प्रियं पाथः अभि-अश्याम्) इस सर्वव्यापक परमेश्वर के उस त्रिप्त करने वाले अन्तरिक्ष–ब्रह्मलोक को मैं प्राप्त होऊं, (यत्र देवयवः नरः मदन्ति) जहाँ आत्मना उस परमदेव की अभिलाषा करने वाले, विषयों से उपरत हुए–हुए साधक हर्षातिरेक का अनुभव करते हैं-फूले नहीं समाते हैं। क्योंकि(सः हि इत्था बन्धु) वह परमेश्वर ही इस प्रकार हमार सच्चा बन्धु है। उस (उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः उत्सः) अत्यन्त परा-क्रमयुक्त सर्वव्यापक परमेश्वर के अत्यन्त उत्तम प्राप्त करने योग्य ब्रह्मलोक-वा मोक्षपद में मधु का झरना है आनन्द रस का स्रोत है।

इस मन्त्र में साधक बड़ी तड़प से कहता है कि उस प्राण प्रिय व्यापक प्रभु का जो प्रिय-अत्यन्त तृप्त करने वाला अन्तरिक्ष ब्रह्मलोक-आनन्द धाम है, मैं अपने आप को चहुं ओर से समेट कर-एकाग्र, एवं स्थिर कर उसको प्राप्त करूं। जहाँ विषयों से सर्वथा ऊपर उठे हुए-हुए से उस परमेश्वर की हृदय से कामना करते हुए साधक सदा

आनन्द विभोर रहते हैं-तृप्त-परितृप्त रहते हैं। इस प्रकार वह तब से अनुभव करता है कि वह प्यारा और सब जग से न्यारा परमेश्वर ही हमारा सच्चा हितैषी बन्धु है। उस अनन्त पराक्रमशाली महान् परमेश्वर के परम पद में-अत्यन्तोत्कृष्ट प्राप्तव्य स्वरूप में मधु का-आनन्द का-रस का अद्वितीय स्रोत है- झरना है। उस रस को पालेने पर फिर सब रस फीके-नीरस हो जाते हैं।

शब्दार्थ-व्याकरण - पाथोऽन्तरिक्षम् (निरुक्त ६.७)। पाथ अन्तरिक्ष को अर्थात् ब्रह्मलोक को कहते हैं। पा रक्षणे' धातु से असुन् प्रत्यय और थुट् के आगम से बनता है।

देवयवः-देव+देवमात्मन इच्छतीति। सुप आत्मनः क्यच्, 'क्याच्छन्दसि-इति-उ देव+क्यच्+उ=देवयुः देवयू,- देवयवः-प्रथमा बहुवचन।

इत्था—इत्थम् का ही वैदिक रूप है। अनेक प्रकारेणेत्यर्थः। मध्वः-मधु शब्द षष्ठी का एक वचन है। लौकिक संस्कृत में मधुनः बनेगा।

मन्त्र ५ का सूर्य परक-अपने तेज प्रकाश से व्याप्त हुए इस सूर्य के इस अन्तरिक्ष लोक को मैं प्राप्त होऊं, जहाँ दिल से सूर्य और उसके तेज प्रकाश को चाहने वाले

तुम्हारे लिये धूप वायु वाले खुले घर चाहते हैं।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै तत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।६।

अन्वयः-[हे दम्पती]वा गमध्यै ता[तानि]वास्तूनि उश्मसि, यत्र भूरिश्रृङ्गाः गावः अयासः। अत्र अह उरुगायस्य वृष्णः तत् परमं पदं भूरि अवभति।

सं०अन्वयार्थः— हे दम्पतियों ! हे पतिपत्नियो ! तुम्हारे विचरने के लिये उन स्थानों-घरों की हम कामना करते हैं, जहाँ पर बड़े-बड़े सींग्रो वाली गौयें विचरती हैं [वा जहाँ पर प्रदीप्त तेजों वली रश्मियाँ आती रहती

मनुष्य सदा हर्षित रहते हैं। यह सूर्य हमारा सच्चा बन्धु है, ऋतु-ऋतु में समय समय पर यह बन्धु हमें स्नेह से- अपने हितों से कृतार्थ करता रहता है। इस सूर्य के दिव्य प्राप्तव्य स्वरूप मधुकर-सुखों का अनुपम झरना है - स्रोत है। अब यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम इस स्रोत से क्या लाभ उठा सकते हैं। उस तेज को विभिन्न रंगों वाली शीशियों के जलमें लेकर जहाँ हम नीरोग हो सकते हैं वहाँ हम स्वस्थ और सशक्त भी हो सकते हैं। अन्य भी सूर्य तापी चूल्हों, तवों तथा अन्य नानाविध औषधि वनस्पतियों के द्वारा हम सुख लाभ कर सकते हैं। यही सूर्य के मधु के अनुपम स्रोत हैं।

आती रहती हैं]। यहाँ ही महान् गति वाले वा महान् कीर्ति वाले सुखवर्षक परमेश्वर का परम पद-परम प्रापणीय स्वरूप-मोक्ष पद खूब प्रकाशित होता है।

अन्वयार्थः-हे साधक दम्पतियो ! हे प्रभु प्रेमी गृहस्थ नर-नारियो ! (वां गमध्यै ता-तानि वास्तूनि उश्मसि) तुम दोनों के विचरने वा रहने-सहने के लिये उन निवास योग्य उत्तम स्थानों-गृहों की हम कामना करते हैं, (यत्र भूरिशृङ्गा गावः अयासः) जहां पर अस्वास्थ्य-रोगों को हटाने के लिये बहुत तीखी गोएं-रश्मियाँ-सूर्यकिरणे खूब आती हों अथवा जहाँ पर मनुष्यों के रोगों,कमजोरियों को हटाने और उन्हें सब तरह से स्वस्थ सशक्त बनाने वाली दुधारु गौएं विचरती हों वा जहाँ पर हृदय के अविद्यान्धकार को हरने और उसमें ज्ञान के प्रकाश का संचार करने वाली गौयें-वेद की ऋचाएं-ज्ञान को तेजोमयी-प्रकाशमयी तीखी रश्मियाँ आती रहती हों,(अत्र अह उरुगायस्य वृष्णः तत् परम पदं भूरि अवभाति) यहाँ पर फिर निश्चय ही बड़ी गति वाले-बड़ी कीर्ति वाले सुखों की वर्षा करने वाले, सुखवर्षक प्रभु परम का परं प्रापणीय स्वरूप अत्यन्त प्रकाशमान होता है।

वेद का कहना यह है कि वेदानुयायी प्रभुपरायण सद्गृहस्थों को निवासयोग्य ऐसे घर बनाने चाहियें,कि जहाँ सूर्य की रश्मियों का तीव्र प्रकाश आए। इससे घर परिवार नीरोग और स्वस्थ रहेंगे। ऐसे ही घर-परिवार में पर्याप्त गौएं हो जिनके केवल मूत्र-गोबर आदि से ही नहीं वरन् गोदुग्ध,नवनीत, दधि, पनीर, घृत तक्र आदि से मनुष्य तन-मन से नीरोग, स्वस्थ और सशक्त, होते रहेंगे, ऐसे

ही जहाँ घर में बहुत तीक्ष्ण ज्ञान प्रकाश-युक्त गौएं-वेद की ऋचाएं विचरती हों अर्थात् उनमें स्वाध्याय प्रवचन आदि होता रहता हो, क्योंकि ऐसे घर परिवारों में ही निश्चय से उस महान् गति एवं महान् यशवाले सुख-सौभाग्यों कीवर्षा करने वाले सर्वव्यापक परम पिता परमेश्वर का परमपद-परम दिव्यस्वरूप का अच्छी तरह से प्रकाशमान-देदीप्यामान होता है।

शब्दार्थं व्याकरण-ता=तानि। अत्रशेर्लुक् छन्दसत्वात्। वास्तूनि-'वास्तु-इति गृहनामसु पठितम्। सुख निवास योग्यानि गृहाणि।

गमध्यै-तुमर्थे सेऽसे-इत्यादि से तुमुन् प्रत्यय के स्थान पर अध्यैन् प्रत्ययः। गन्तुमित्यर्थः।

उश्मसि-'वश कान्तौ' धातोः लङ् उत्तमपुरुष बहुवचनम्। कामयामहे।

अयासः-अय'इण गतौ'धातु से अच् करने पर अय' का प्रथमा बहुवचन का रूप है। अयाः'आज्जसेरसुक्'से स्वार्थ में असुक् का आगम होकर अयासः'रूप बना अयना-गतिशोला इत्यर्थः

भूरिश्रृङ्गाः बहुश्रृङ्गः तीक्ष्णश्रृङ्गा वा

मन्त्र ६ का सूर्य परक अर्थः-हे साधक दम्पतियो। तुम्हारे रहन-सहन के लिये हम ऐसे उन घरों को दिल से चाहते हैं जहाँ विष्णु-अर्थात् सूर्य की पेनी तीखी तेज रश्मियों का पर्याप्त आगमन हो। क्योंकि ऐसे निवास योग्य स्थानों-घरों में ही उस महानगति एवं महान यशों वाले सुखवर्षक सूर्य का परम पद-परमतेजोमय स्वरूप का खुब प्रकाशमान होता है। और इससे जो भी लाभ मिलना चाहिये वह सहज उन्हें प्राप्त होता है।

"श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" द्वारा श्रद्धा पूर्वक दान देने वाले महानुभावों के सहयोग से लेखक की प्रकाशित पुस्तकें-

क्रम सं० बात पुस्तक प्र.सं. द्वि.सं. तृ.सं च.सं

१. प्रार्थना सुमन-१ ११०० २००० ४००० ४०००

२. कौन चैन की नींद नहीं सो
सकते और उसके उपाय २००० २००० ४००० ४०००
पं०सं० ४००० ष,सं. ४००० स.सं. ४०००

वेद सुधा भाग-१ २००० ३००० ४०००

४. विदुर की दृष्टि में बुद्धिमान्
कौन ? भाग-१ २००० ४००० ४००० ४०००

५. महान् विदुर के महान् उपदेश २००० ४००० ४०००

६. वेद सुधा भाग-२ २००० ४००० ४०००

७. विनय सुमन भाग-१ २००० ४००० ४०००

८. प्रार्थना प्रदीप भाग-१ २००० ४००० ४०००

९. प्रार्थना प्रसून भाग-१ २००० ४००० ४०००

१०. प्रार्थना सुमन भाग-१ २००० ४००० ४०००

११. विनय सुमन भाग-२ २००० ४००० ४०००

१२- अनन्त की ओर २००० ४००० ४००० ४०००
प०सं० ४०००

१३. वैदिक पुष्पाञ्जलि भाग-१ २००० २०००

१४. वैदिक पुष्पाञ्जलि भाग-२ २०००

१५, वैदिक पुष्पाञ्जलि भाग-३ २०००

१६. वैदिक पुष्पाञ्जलि भाग-४ २०००

१७. वैदिक गृहस्थ आश्रम [सुखी गृहस्थ-दाम्पत्य जीवन]
३००० ४००० ४००० ४००० पं०सं० ४०००

१८. प्रभात वन्दन ३००० ४०००

१९. शयन विनय ४००० ४०००

२०. वेदोपदेश भाग-१ ४००० ३००० ४०००

२१. वैदिक रश्मियाँ भाग-१ ४००० ४०००

२२. विनय सुमन भाग-३ ३००० ४०००

२३, विदुर जी की दृष्टि में
बुद्धिमान कौन? भाग-२ ४००० ४००० ४०००

२४, वैदिक आदर्श परिवार, भाग-१	४०००	४०००	४०००
२५. वैदिक रश्मियाँ भाग-२	३०००	४०००	
२६. ब्रह्मयज्ञ (वैदिक संध्या)	४०००	४०००	
२७. वैदिक रश्मियाँ भाग-३	३०००	४०००	
२८. पावमानी 'वरदा वेदमाता'	४०००	४०००	
२९. यम-नियम (१)	४०००	४०००	४०००
३०. (जीवन गाथ,।माता भगवती जी)	४०००	४०००	
३१. ईशोपनिषद्	४०००	४०००	
३२. नचिकेता के तीन वर	४०००	४०००	
३३. याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद	४०००	४०००	
३४. यज्ञ सुधा	४०००		
३५. पावन धारा	४०००	४०००	
३६. कहाँ है वह	४०००	४०००	
३७. वैदिक रश्मियाँ भाग-४	४०००		
३८. भक्ति भरे भजन-एक लघु संग्रह	४०००		
३९. केनोपनिषद्	४०००		
४०. अष्टाङ्ग योग	४०००	४०००	
४१. यज्ञ सुधा (संक्षिप्त)	४०००		
४२. क्रिया योग	४०००		
४३. श्रद्धा	४०००		
४४. दैनिक अग्निहोत्र-अर्थ, व्याख्या	४०००		
४५. "दान दिये धन ना घटे"	४०००	४०००	
४६. जुआ मत खेलो, पुरुषार्थ करो'	४०००		
४७. वैदिक रश्मियाँ भाग-५	४०००		
४८. तुझे कौन भजते हैं			
४९. सुख का धाम, स्वर्गाश्रम गृहस्थाश्रम		४०००	
५०. ईश्वर! मुझे सुखी कर।		४०००	
५१, वेदाध्ययन भाग-१		४०००	
६०. भक्त और भगवान्			
६१, आङ्ग्ल भाषा में प्रकाशित साहित्य			
Quest for the Infinite	2000		

नोट—पुस्तक विक्रेता आदि को "श्रद्धा साहित्य प्रकाशन" के लिये ५.५० मात्र देकर भी पुस्तक प्राप्त की जा सकती है।

वेदरत्न प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार,
उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

जन्मतिथि : ७-१-१९३६
जन्म स्थान : थाना, मलाकण्ड एजेन्सी,
जिला-मरदान, फ्रन्टियर (वर्तमान पाकिस्तान)
पिता का नाम : श्री गंगाविशन जी

* शिक्षा : गवर्नमेंट हाई स्कूल थाना; आदर्श हाई स्कूल, चन्दौसी; श्यामसुन्दर मेमोरियल हाई स्कूल चन्दौसी; दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय, यमुनानगर; गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

* उपाधियाँ : —"सिद्धान्त भूषण" एवं "सिद्धान्त शिरोमणि" द्वारा-दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय, यमुनानगर
—"वेदालंकार" एम.ए, वैदिक साहित्य, द्वारा-गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

* प्रचार कार्य क्षेत्र: उत्तर प्रदेश, दिल्ली, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, जम्मू, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र (बम्बई), गुजरात, नेपाल, अमेरिका आदि

* अध्यापन: दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय, यमुनानगर; गुरुकुल झज्झर, हरियाणा; गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार—प्रोफेसर वेदविभाग। वर्तमान पद-आचार्य एवं कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।डेढ़ वर्ष कुलपति पद पर कार्य किया।

* सम्मान एवं पुरस्कार :
  * आचार्य गोवर्धन शास्त्री स्मृति पुरस्कार (१९८१) से सम्मानित एवं पुरस्कृत,
    —द्वारा संगढ़ विद्या सभा ट्रस्ट, जयपुर ।
  ** आर्य साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के उपलक्ष्य में १९८३ में सम्मानित, पुरस्कृत।
    —द्वारा महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी समारोह समिति, अजमेर।
  *** "वेद रत्न"— मानद उपाधि, १९८४ में सम्मानित—*द्वारा-विश्ववेद परिषद।*
  **** "शान्ति पुरस्कार से १५ अगस्त १९९३ में सम्मानित एवं पुरस्कृत
    द्वारा-आर्य समाज शालीमार बाग, नई दिल्ली ।

* लेखन व प्रकाशन : ५२ पुस्तकें एवं पत्रिकाओं में लेख आदि।